विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २३ अंक: १
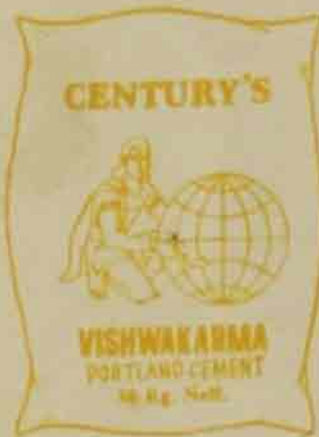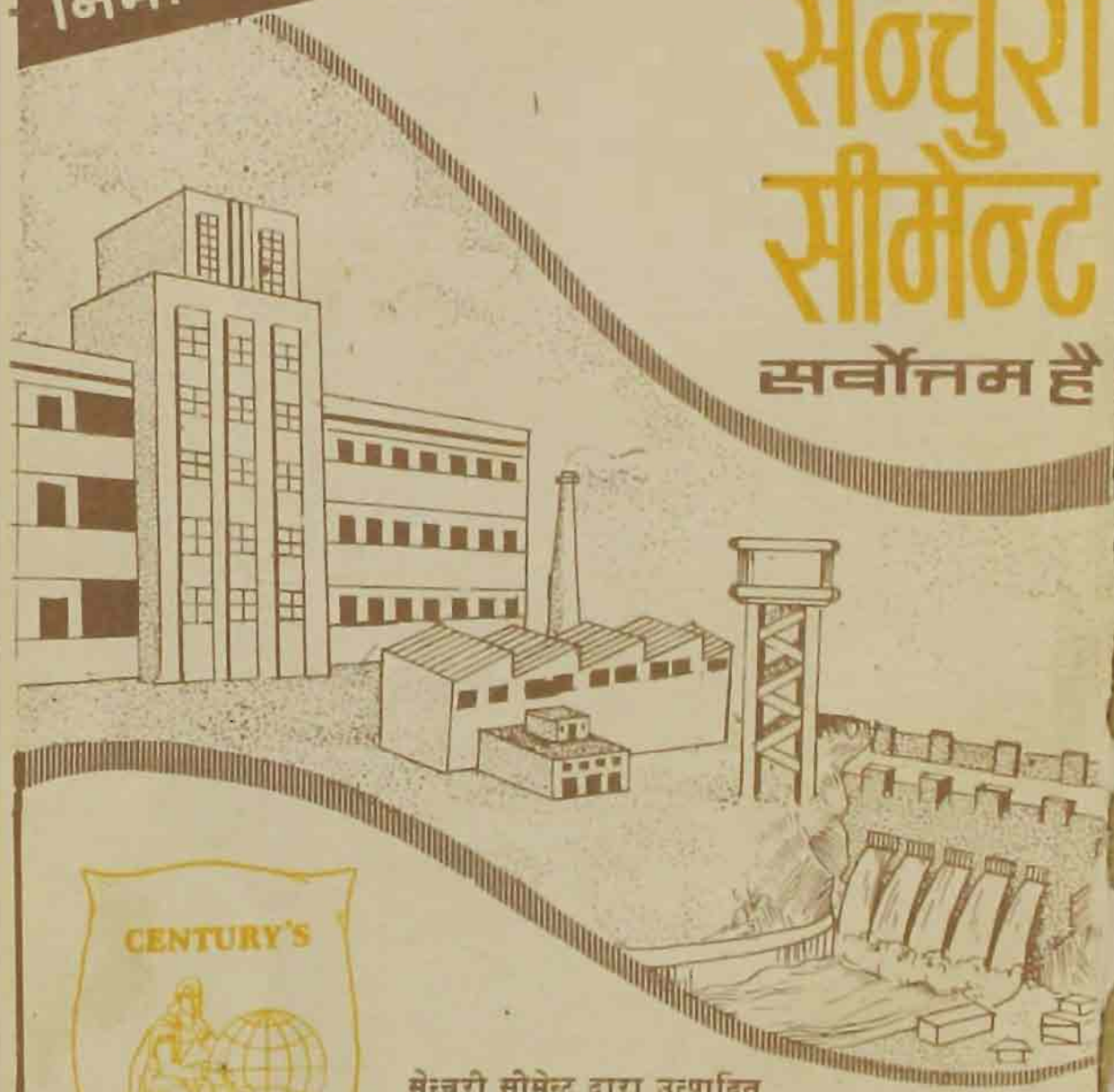
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९८५ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(६८ वीं तालिका)

(३१ अक्तूबर १९८४ तक)

२२७५. श्री सुनीत गोपाल कृष्ण, इन्दौर।
२२७६. श्रीमती एस.सी. बियास, इन्दौर।
२२७७. श्रीमती कृष्णा झालानी, इन्दौर।
२२७८. श्री महेश बंसल, इन्दौर।
२२७९. डॉ. चन्द्रभान गुप्ता, इन्दौर।
२२८०. कु. महाश्वेता बेन वैद्य, जूनागढ़ (गुजरात)।
२२८१. डॉ. (कु.) मीनाक्षी बुच, जूनागढ़।
२२८२. श्री मथुरादास भीमजी, जूनागढ़।
२२८३. श्री एम.जे. बुच, अन्धेरी, बम्बई।
२२८४. डॉ. (कु.) एस.पी. शुक्ला, गाँधीग्राम जूनागढ़।
२२८५. श्री अर्जुनदास वैष्णव, घरघोड़ा (रायगढ़)।
२२८६. श्री परीमल जे. दलाल, सूरत (गुजरात)।
२२८७. डॉ. कृष्ण मुरारी, नई दिल्ली।
२२८८. श्री प्रभाकर सिंह, इलाहाबाद।
२२८९. श्री हर्षवर्धन चोपड़ा, इन्दौर।
२२९०. श्री शैलेन्द्रकुमार कौरव, गाडरवारा (नरसिंहपुर)।
२२९१. श्रीमती आशा वर्मा, इलाहाबाद।
२२९२. श्री ए.पी. मूर्ति, भिलाई (म.प्र.)।
२२९३. ठाकुर भूपेन्द्र सिंह, भिलाई।
२२९४. श्री टी.एस. बन्छोर, हथखोज, सोरडुंग, दुर्ग।
२२९५. श्रीमती कृष्णा. वाय.के. त्रिवेदी, मुलुन्द, बम्बई।
२२९६. श्री विकास ओझा, बोकारो, स्टील सिटी, धनबाद।

२२९७. श्रीमती नलिनी सिंह, इन्दौर।

२२९८. श्री भीमकरण छपरवाल, इचलकरंजी (महाराष्ट्र)।

२२९९. श्रीमती उषा एस. रेगे, दादर, बम्बई।

२३००. श्री कानमल सुभाषचंद्र ललवानी, राजनाँदगाँव (म.प्र.)

२३०१. श्री ब्रह्मानन्द चौबे, खुरखुरीदादर अमरकंटक (म.प्र.)।

२३०२. श्री गिरधारीलाल सुलतानिया, पेंड्रा रोड (म.प्र.)।

२३०३. श्री प्रभुदयाल अग्रवाल, पेण्ड्रा रोड (म.प्र.)।

२३०४. श्री मामनचंद अग्रवाल, पेण्ड्रा रोड (म.प्र.)।

२३०५. वाचनालय, शा. उ.मा. विद्यालय, अमरकण्टक।

○

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान —रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता —त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक —स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता —भारतीय

पता —रामकृष्ण मिशन, रायपुर

स्वत्वाधिकारी —रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी प्रभानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २३] जनवरी–फरवरी–मार्च ★ १९८५ ★ [अंक १

सज्जनों का स्वभाव

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।

—जिनके तन, मन और वाणी में पुण्यरूपी अमृत भरा है, जो अपने उपकारों से तीनों लोकों को तृप्त करते हैं, और जो दूसरे के परमाणु-समान गुणों को पर्वत के समान बढ़ाकर अपने हृदय में प्रसन्न होते हैं, ऐसे सत्पुरुष इस जगत् में विरले ही हैं।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ७९ ।

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

रिजले मैनर

३० अक्तूबर, १८९९

प्रिय आशावादिनी,

तुम्हारी चिट्ठी मिली और इसके लिए अनुगृहीत हूँ कि किसी बात ने आशावादी एकान्तवाद को सक्रिय होने के लिए विवश किया है। यों तो तुम्हारे प्रश्नों ने नैराश्य के स्रोत को ही खोल दिया है। आधुनिक भारत में अंग्रेजी शासन का केवल एक ही सान्त्वनादायक पक्ष है कि एक बार फिर उसने अनजाने ही भारत को विश्व के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर दिया है, उसने बाह्य जगत् के सम्पर्क को इस पर लाद दिया है। अगर जनता के मंगल के लिए यह किया गया होता, तो जिस तरह परिस्थितियों ने जापान की सहायता की, भारत के लिए इसका परिणाम और भी आश्चर्यजनक होता। जब मुख्य ध्येय खून चूसना हो, कोई कल्याण नहीं हो सकता। मोटे रूप से जनता के लिए पुराना शासन अधिक अच्छा था, क्योंकि जनता से वह सब कुछ नहीं छीनता था और उसमें कुछ न्याय था, कुछ स्वतंत्रता थी।

कुछ सौ आधुनीकृत, अर्धशिक्षित एवं राष्ट्रीय चेतना-शून्य पुरुष ही वर्तमान अंग्रेजी भारत का दिखावा हैं—और कुछ नहीं। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार १२वीं शताब्दी में ६० करोड़ हिन्दू थे—अब २० करोड़ से भी कम।

भारत को जीतने के लिए अंग्रेजों के संघर्ष के मध्य शताब्दियों की अराजकता, अंग्रेजों द्वारा १८५७-५८ में किये गये भयावह जनवधों और इससे अधिक भयावह अकालों, जो अंग्रेजी शासन के अनिवार्य परिणाम बन गये हैं (देशी राज्यों में कभी अकाल नहीं पड़ता) और उनमें लाखों प्राणियों की मृत्यु के बावजूद भी जनसंख्या में काफी वृद्धि होती रही है; तब भी जनसंख्या उतनी नहीं है जब देश पूर्णत: स्वतन्त्र था—अर्थात् मुस्लिम शासन के पूर्व। भारतीय श्रम एवं उत्पादन से भारत की वर्तमान आबादी की पाँच गुनी आबादी का भी आसानी से निर्वाह हो सकता है, यदि भारतीयों की सारी वस्तुएँ उनसे छीन न ली जायँ।

यह आज की स्थिति है—शिक्षा को भी अब अधिक नहीं फैलने दिया जायगा; प्रेस की स्वतन्त्रता का गला पहले ही घोंट दिया गया है, (निरस्त्र तो हम पहले से ही कर दिये गये हैं) और स्व-शासन का जो थोड़ा अवसर हमको पहले दिया गया था, शीघ्रता से छीना जा रहा है। हम इन्तजार कर रहे हैं कि अब आगे क्या होगा! निर्दोष आलोचना में लिखे गये कुछ शब्दों के लिए लोगों को कालापानी की सजा दी जा रही है, अन्य लोग बिना कुछ मुकदमा चलाये जेलों में ठूँसे जा रहे हैं; और किसी को कुछ पता नहीं कि कब उनका सर धड़ से अलग हो जायगा।

कुछ वर्षों से भारत में आतंकपूर्ण शासन का दौर है। अंग्रेज सिपाही हमारे देशवासियों का खून कर रहे हैं, हमारी बहनों को अपमानित कर रहे हैं—हमारे खर्च से ही यात्रा का किराया और पेन्शन देकर स्वदेश भेजे जाने के लिए! हम लोग घोर अन्धकार में हैं—ईश्वर कहाँ

है ? मेरी, तुम आशावादिनी हो सकती हो, लेकिन क्या यह मेरे लिए सम्भव है ? मान लो तुम इस पत्र को प्रकाशित भर कर दो—तो उस कानून का सहारा लेकर जो अभी अभी भारत में पारित हुआ है, अंग्रेजी सरकार मुझे यहाँ से भारत घसीट ले जायगी और बिना किसी कानूनी कार्रवाई के मुझे मार डालेगी । और मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी सभी ईसाई सरकारें इस पर खुशी मनाएँगी, क्योंकि हम गैरईसाई हैं । क्या मैं भी सोने चला जा सकता हूँ और आशावादी हो सकता हूँ ? नीरो सबसे बड़ा आशावादी मनुष्य था ! समाचार के रूप में भी वे इन भीषण बातों को प्रकाशित नहीं करना चाहते, अगर कुछ समाचार देना आवश्यक भी हो तो 'रायटर' के संवाददाता ठीक उलटा झूठा समाचार गढ़ कर देते हैं ! एक ईसाई के लिए एक गैरईसाई की हत्या भी वैधानिक मनोरंजन है ! तुम्हारे मिशनरी ईश्वर का उपदेश करने जाते हैं, लेकिन अंग्रेजों के भय से एक शब्द भी सत्य कह पाने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि अंग्रेज उन्हें दूसरे दिन ही लात मारकर निकाल बाहर कर देंगे ।

शिक्षा-संचालक के लिए पूर्ववर्ती सरकारों द्वारा अनुदत्त सम्पत्ति एवं जमीन को गले के नीचे उतार लिया गया है और वर्तमान सरकार रूस से भी कम शिक्षा पर व्यय करती है । और शिक्षा भी कैसी ?

मौलिकता की किंचित् अभिव्यक्ति भी दबा दी जाती है । मेरी, अगर कोई वास्तव में ऐसा ईश्वर नहीं है, जो सबका पिता है, जो निर्बल की रक्षा करने में सबल से भयभीत नहीं है और जिसे रिश्वत नहीं दिया जा सकता, तो सब कुछ हमारे लिए निराशा ही है । क्या कोई

इस प्रकार का ईश्वर है ? समय बताएगा ।

हाँ तो, मैं ऐसा सोच रहा हूँ कि कुछ सप्ताह में शिकागो आ रहा हूँ और इन विषयों पर पूर्ण रूप से बात करूँगा । इस समाचार के सूत्र को प्रकट न करना ।

प्यार के साथ सतत तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

पुनश्च—जहाँ तक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रश्न है ब्राह्मसमाज तथा अन्य व्यर्थ की खिचड़ी पकाते हैं । वे मात्र अंग्रेज के प्रति कृतज्ञता की ध्वनियाँ हैं, जिससे कि वे हमें साँस लेने की आज्ञा दे सकें । हम लोगों ने एक नये भारत का श्रीगणेश किया है—एक विकास—इस बात की प्रतीक्षा में कि आगे क्या घटित होता है । हम तभी नये विचारों में आस्था रखते हैं, जब राष्ट्र उनकी मांग करता है और जो हमारे लिए सत्य हैं । ब्राह्मसमाजी के लिए सत्य की यह कसौटी है, 'जिसका हमारे मालिक अनुमोदन करें'; किन्तु हमारे लिए वह सत्य है, जो भारतीय बुद्धि एवं अनुभूति द्वारा मण्डित है । संघर्ष आरम्भ हो गया है—हमारे एवं ब्राह्मसमाज के बीच नहीं, क्योंकि वे पहले से ही निष्प्राण हो गये हैं, बल्कि इससे भी अधिक एक कठिन , गम्भीर एवं भीषण संघर्ष ।

○

यदि तुम अपने को बद्ध सोचो, तो बद्ध ही रहोगे, तुम स्वत: ही अपने बन्धन के कारण होओगे । यदि तुम अनुभव करो कि तुम मुक्त हो, तो इसी क्षण तुम मुक्त हो ।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

आठवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। ——स०)

श्रीरामकृष्ण और केशव

केशव सेन ठाकुर को दक्षिणेश्वर से स्टीमर द्वारा घुमाने ले जाने के लिए आये हुए हैं। साथ में बहुत से भक्त हैं। ठाकुर नौका से जाकर स्टीमर पर चढ़ेंगे। वे नौका पर आते ही समाधिस्थ हो जाते हैं। अनेक चेष्टा करके उन्हें थोड़ा होश में लाया गया, फिर स्टीमर पर चढ़ाया गया। तब भी भावस्थ हैं। धीरे-धीरे उन्हें ले जाकर केबिन के बीच बैठाया गया। सभी भक्तगण उनके पास रहना चाहते हैं, जिससे उनकी प्रत्येक बात को सुन सकें। जिसे जहाँ जगह मिली, भीतर बैठ गया। वहाँ सबके लिए स्थान नहीं था। इसलिए अनेक लोग बाहर से ही उनकी बात सुनने के लिए आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। ठाकुर फिर से समाधिस्थ हो गये——एकदम होश गँवा बैठे।

समाधि-भंग होने पर ठाकुर अस्पष्ट स्वर में बोले, "माँ, मुझे यहाँ क्यों ले आयी ? क्या मैं इन लोगों की बेड़े के भीतर से रक्षा कर सकूँगा ?" ठाकुर ने किस अर्थ में यह बात कही यह तो वे ही जानें। वहाँ पर मास्टर महाशय का मन्तव्य यह है कि सम्भवतः ठाकुर यह कहते हैं, ये जो सारे जीव माया के बेड़े में बँधे हैं, उनका वहाँ से उद्धार क्या सम्भव है ?—-मानो जगन्माता से उनका यह प्रश्न है, यह अभिप्राय है। इसके बाद ठाकुर यह बात विस्तार से कह रहे हैं कि एक ही वस्तु को ज्ञानी, योगी और भक्त क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहकर पुकारते हैं। इस सबकी चर्चा हम अपने तीसरे प्रवचन में कर चुके हैं।

श्रीरामकृष्ण अविरल रूप से भगवत्प्रसंग कर रहे हैं। भक्तगण सुन रहे हैं। श्री 'म' कहते हैं कि भक्तगण उस अमृत-पान में इतने तन्मय हैं कि कि स्टीमर जो चल रही है, इसका उनको ध्यान ही नहीं। श्रीरामकृष्ण के मुख से जो वचनामृत-धारा बह रही है, उसे पीकर सभी मत्त हैं।

वेदान्तमत, ब्राह्ममत और तन्त्रमत

ठाकुर सर्वप्रथम कहते हैं, "वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव-जगत्—यह सब शक्ति का खेल है। वे ब्राह्मभक्तों के सामने थे, अतः उन्होंने 'वेदान्तवादी' ब्रह्मज्ञानी' कहा। पहले ब्राह्म लोगों को 'ब्रह्मज्ञानी' शब्द से सम्बोधित किया जाता था। इसी कारण वे 'वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी' कहकर दोनों का अन्तर स्पष्ट कर दे रहे हैं। भले ही केशव के अनुयायी भी ब्रह्मज्ञानी के नाम से परिचित हैं, पर वे

वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं अर्थात् वे निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक नहीं हैं। निर्गुण-निराकार ब्रह्म को वे स्वीकार करते भी नहीं। वे निराकार लेकिन सगुण ईश्वर का भजन करते हैं। निराकार -निर्गुण तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है। जब वह सगुण होता है, तब भले ही उसका आकार हो या न हो, साधारणतया उसका ब्रह्म शब्द के द्वारा उल्लेख नहीं किया जाता, तब उसे कहा जाता है 'ईश्वर'। ब्राह्म ब्रह्मज्ञानी इसी ईश्वर पर विश्वास करते हैं। और वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी निर्गुण-निराकार ब्रह्म पर विश्वास करनेवाले होते हैं। इसीलिए वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानियों को ब्राह्म ब्रह्मज्ञानियों से पृथक् करते हुए ठाकुर कहते हैं—वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव-जगत्—यह सब शक्ति का खेल है। विचार करने से यह सब स्वप्नवत् है; ब्रह्म ही वस्तु है और सब अवस्तु; शक्ति भी स्वप्नवत् है, अवस्तु है।

यहीं पर वेदान्त और तन्त्रमत का पार्थक्य है। तन्त्रमत में शक्ति को मिथ्या नहीं कहते। जैसे ब्रह्म सत्य है, वैसे ही शक्ति भी सत्य है। ब्रह्म और शक्ति दो पृथक वस्तुएँ हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। एक ही तत्त्व दो रूपों में अभिव्यक्त है। जब वह तत्त्व सृष्टि, स्थिति और लय करता है, तब उसे 'शक्ति' कहा जाता है। और जब उसमें सृष्टि, स्थिति आदि क्रिया नहीं होती, तब उसी को 'ब्रह्म' कहकर पुकारा जाता है। अतः तन्त्रमत में शक्ति भी ब्रह्म के ही समान सत्य है। अब प्रश्न उठता है कि दो सत्य होने से द्वैतापत्ति होगी या नहीं? तन्त्र कहता है—द्वैतापत्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं, एक ही

तत्त्व हैं। किन्तु वेदान्तवादी कहते हैं—शक्ति मिथ्या अनिर्वचनीय है; ब्रह्म ही वस्तु है, और शेष सब अवस्तु। यह हुआ वेदान्त और शाक्तमत का पार्थक्य।

श्रीरामकृष्ण : ब्रह्म और शक्ति अभेद

इसके पश्चात् ठाकुर कहते हैं, "किन्तु हजार विचार करो, समाधि-लाभ न होने तक शक्ति के राज्य से बाहर जाने का उपाय नहीं है।" जिस अवस्था में किसी क्रिया का, जगत् का बोध नहीं रहता, उसे समाधि की अवस्था कहते हैं। उस अवस्था में साधक भले ही शक्ति के इलाके से बाहर चला जाता है, किन्तु जब तक जगत् का, 'मैं' का बोध है, तब तक शक्ति के इलाके से बाहर जाने का उपाय नहीं है। ठाकुर इसी बात को कहते हैं, "हजार उपाय करो, समाधि-लाभ न होने तक शक्ति के राज्य से बाहर जाने का उपाय नहीं है। 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' 'मैं विचार कर रहा हूँ' यह सब शक्ति के राज्य में, उसके ऐश्वर्य की सीमा में है। इसीलिए ब्रह्म और शक्ति अभेद है। एक को स्वीकार करने से दूसरे को भी मानना पड़ता है।" ऐसा कहकर ठाकुर यह बताते हैं कि इन दोनों ही अभिन्न वस्तुओं को अनिवार्यत: स्वीकार करना पड़ता है। ठाकुर की यह बात वेदान्त दर्शन की ओर से देखने पर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करती है। लेकिन इसे ठीक नया कहना भी उचित नहीं—कहना होगा कि वेदान्त दर्शन में शक्ति की मात्र आपेक्षिक सत्ता स्वीकार की गयी है, लेकिन ठाकुर इस शक्ति पर विशेष जोर देते हैं। वे यह बात बार-बार कहते हैं कि जब तक हम शरीर-मन से बँधे हुए हैं, तब तक शक्ति की प्रभुता उपेक्षणीय नहीं है। देह-धारण करने पर शक्ति को

मानना ही होगा ।

आपेक्षिक सत्ता कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक हम ब्रह्म को कारण-रूप कहते हैं, तब तक उसका यह कारण-रूप होना ही शक्ति का स्वरूप होना है; पर जब उसे कार्य-कारण से अतीत कहा जाता है, मात्र तभी वह ब्रह्मस्वरूप है । जब उसे जगत्कारण कहते हैं अर्थात् 'ईश्वर' कहते हैं, तब भी वह शक्ति के ही राज्य के भीतर की बात है । वेदान्तशास्त्र में जहाँ पर जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय के कर्ता को ब्रह्म कहा गया है, ध्यान रखना होगा कि वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' (तै. उ० ३।१)—'जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा वे सब जीवित रहते हैं तथा प्रलयकाल में जिसमें सभी लय को प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है ।' यहाँ पर ब्रह्म निर्गुण-निराकार सत्ता के रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है । जब वह निर्गुण होता है, तब सृष्टि आदि क्रिया नहीं होती । जो प्रकृति निर्गुणात्मक है, ब्रह्म से अभिन्न है, वह सांख्य की प्रकृति नहीं है, क्योंकि तन्त्र में उसे 'जड़' नहीं कहा जाता । ऐसी जो प्रकृति है, उसे ही शक्ति कहते हैं, वही आद्यशक्ति है, वही काली है । वही इस जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करनेवाली है । उसी को परमेश्वरी या परमेश्वर या जगत्-कारण ब्रह्म कहा जाता है । अतः इस दृष्टि से देखने पर यह ध्यान रखना होगा कि ईश्वर तक सब कुछ शक्ति के भीतर है, शक्ति के बाहर नहीं । ठाकुर कहते हैं कि "मैं ध्यान करता हूँ, मैं विचार करता हूँ, यह सब शक्ति

के राज्य में, उसके ऐश्वर्य की सीमा में है।"

तोतापुरी की नयी दृष्टि

हमें ध्यान रखना होगा कि तोतापुरी ब्रह्मज्ञानी थे। उन्होंने साक्षात् अद्वैत तत्त्व की अनुभूति की थी। इस सम्बन्ध में सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ठाकुर यह बात बार बार कहा करते थे। ऐसे तोतापुरी भी भ्रम में पड़े थे कि शक्ति मिथ्या है। उन्होंने दीर्घकाल तक शक्ति की सत्यता को स्वीकार नहीं किया। बाद में अनेक प्रकार की अवस्थाओं में से गुजरकर अन्त में उन्हें उस जगन्माता को, आद्याशक्ति को स्वीकार करना पड़ा था। इससे समझा जा सकता है कि इस प्रसंग में ठाकुर की एक अपूर्व शक्ति ने कार्य किया था, जिसके परिणाम-स्वरूप तोतापुरी-जैसे चोटी के वेदान्तवादी भी शक्ति को मानने के लिए बाध्य हुए थे। ठाकुर भी इस पर बड़े आनन्दित हुए थे कि तोतापुरी ने अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञानी होकर भी शक्ति को मान लिया। यह जो शक्ति का मानना है, यह मानो अद्वैत वेदान्ती तोतापुरी के भी ज्ञान की पूर्णता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या तोतापुरी के ज्ञान में कमी थी? नहीं, उनके ब्रह्मज्ञान में कमी नहीं थी। वे ब्रह्मज्ञ थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनका ब्रह्म-ज्ञान पूर्ण था। किन्तु ब्रह्म के जिस वैचित्र्यबहुल स्वरूप की बात शास्त्रों ने कही है, उसके सम्बन्ध में उन्हें विशेष जानकारी नहीं थी ऐसा लगता है। उनकी साधनाप्रणाली में यह पक्ष मानो पूरी तरह उपेक्षित ही रह गया प्रतीत होता है। अतः शक्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में यदि वे अनभिज्ञ थे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जब किसी साधनापद्धति को लेकर चलना होता है, तब उसके

सम्बन्ध में यथोचित ज्ञान मात्र शास्त्रों से नहीं होता। इसीलिए तोतापुरी में शक्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष जानकारी का अभाव था। उनका वह अभाव ठाकुर के सान्निध्य में आने से दूर हुआ।

लेकिन पहले वे ठाकुर के इस भाव को मानो समझ ही नहीं सके। हम जानते हैं कि जब उन्होंने ठाकुर को संन्यास देना चाहा था, तो ठाकुर ने कहा था, "ठहरो, मैं माँ से पूछ आता हूँ।" फिर वे मन्दिर में जाकर माँ से पूछ आये और बोले, "हाँ, मैं वेदान्त-साधना करूँगा।" तोतापुरी थोड़ा हँसे—इधर वेदान्त-साधना भी करेगा और उधर मन्दिर के भीतर पत्थर की मूर्ति से भी पूछेगा! तोतापुरी के लिए देवी मात्र पाषाणमयी थी। उसका वास्तविक स्वरूप वे नहीं जानते थे, कभी जानने की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की। वे ही तोतापुरी ठाकुर के साथ रहते हुए धीरे-धीरे उनसे अनेक बातें सीखते हैं। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है, एक दिन शाम को पंचवटी में तोतापुरी के पास बैठे धर्म-प्रसंग करते हुए, सन्ध्या हो जाने पर, ठाकुर हाथ से ताली बजाते हुए भगवन्नाम करने लगे। तोतापुरी अवाक् हो गये, उपहास करते हुए बोले, , "अरे, क्यों रोटी ठोकता है!" ठाकुर तो हाथ से ताली बजाते हुए भगवान् का नाम ले रहे हैं और तोतापुरी ठट्ठा कर रहे हैं कि हाथ से पीट-पीटकर रोटी क्यों बना रहा है। तोतापुरी जानते थे कि ठाकुर असाधारण दैवी सम्पदा लेकर जन्मे हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है। पर यह देख वे विचार करते हैं कि ठाकुर अपने पूर्व संस्कारों से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं, यह मानो उन्हीं संस्कारों की पुनरावृत्ति हो रही

है, तभी तो हाथ से ताली बजाकर भगवान् का नाम ले रहे हैं। ठाकुर हँसकर बोले, "हटो जी, मैं तो कहाँ भगवान् का नाम ले रहा हूँ, और तुम कहते हो मैं रोटी ठोक रहा हूँ!" तोतापुरी के उपहास करने पर भी ठाकुर जानते हैं कि एक दिन आएगा, जब तोतापुरी इन सब साधनाओं को भी स्वीकार करेंगे। इसलिए वे धैर्यपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने ऐसा ही धीरज अपने शिष्यों को शिक्षा देने में प्रदर्शित किया था। जब नरेन्द्रनाथ ने ठाकुर की इच्छा से अष्टावक्रसंहिता आदि ग्रन्थ पढ़कर कहा था, "निश्चय ही ऋषि-मुनियों का दिमाग बिगड़ गया था, नहीं तो इस प्रकार की बात वे कैसे लिखते?"—तब ठाकुर बोले थे, "तू इस समय यदि इस बात को नहीं समझ पा रहा है तो इस कारण ऋषि-मुनियों की निन्दा क्यों करेगा?" ठाकुर धीरज रखकर उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। तत्पश्चात् एक दिन जब नरेन्द्रनाथ ने 'लोटा-कटोरी ईश्वर' कहकर हँसी की थी, तब ठाकुर ने उनका स्पर्श कर अद्वैत तत्त्व के सम्बन्ध में उनके सारे सन्देह दूर कर दिये थे। तोतापुरी के प्रसंग में भी ठाकुर जानते थे कि वे द्वैतभाव से उपासना की बात बाद में समझेंगे। और सचमुच ही बाद में तोतापुरी को वह समझना पड़ा था।

यह जो विभिन्न प्रकार से भगवान् की सत्ता की उपलब्धि है, इस सम्बन्ध में यदि हमें प्रारम्भ से जानकारी न हो, तो बाद में हमें वह जान लेना होगा। विशेषकर जो आचार्य होंगे, उनके लिए यह नितान्त प्रयोजनीय है। जिनके जीवन में इस प्रकार की जानकारी परिपूर्ण मात्रा में आएगी, उनका जीवन ही आचार्य के रूप में पूर्ण माना

जाएगा। 'आचार्य के रूप में' इसलिए कहता हूँ कि सभी साधकों को सभी अवस्थाओं में से जाने की आवश्यकता नहीं होती। एक साधक यदि किसी प्रणाली का अवलम्बन करके चरम लक्ष्य तक पहुँच जाए, तो वही उसके जीवन के लिए यथेष्ट है, उसी में उसकी पूरी सार्थकता है। किन्तु जो आचार्य होंगे, जो संसार में सबको रास्ता दिखाने आये हैं, उनका इस प्रकार एकांगी दृष्टि लेकर चलने से काम नहीं बनेगा; ऐसी दशा में वे इस प्रकार के मनोभावयुक्त मात्र कुछ ही लोगों की साधना की दृष्टि से सहायता कर सकेंगे---बहुत से लोग उनकी परिधि से बाहर रह जाएँगे। तभी तो ठाकुर ने कहा है--स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी भी पर्याप्त है, लेकिन दूसरे को मारने के लिए अर्थात् दूसरे के साथ यदि लड़ना पड़े, तो ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार जिनको आचार्य होना होगा, उन्हें, जैसा कि ठाकुर ने कहा है, 'सब घरों में से जाकर अपनी गोटी पकानी' होगी। उनके एक ही ओर से जाने से काम नहीं बनेगा। पूरी जानकारी प्राप्त करनी होगी। ऐसी पूर्ण जानकारी देने के लिए, तोतापुरी की भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में अनभिज्ञता को दूर करने के लिए ठाकुर हँसकर बोले---मैं तो भगवान् का नाम ले रहा हूँ और तुम हो कि उपहास करते हो मैं रोटी ठोक रहा हूँ। क्रमशः तोतापुरी ने वह भाव प्राप्त किया तथा उसके पश्चात् हम जानते हैं कि किस प्रकार वे जगन्माता का साक्षात् दर्शन लाभ कर कृतकृत्य हुए थे।

श्रीरामकृष्ण और उनके गुरु

हमें यह जान रखना होगा कि यद्यपि अवतार-पुरुष

अपने साधना-पथ में किसी-किसी व्यक्ति को गुरु-रूप में वरण करते हैं, लेकिन वे गुरु उनके समान पूर्ण नहीं होते। अवतार के सान्निध्य में आकर, उनकी सहायता से वे क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होते हैं, यह बात ध्यान में रखनी होगी। ठाकुर के प्रसंग में यह बात तोतापुरी पर लागू होती है, फिर भैरवी ब्राह्मणी पर भी। एक ओर तोतापुरी जैसे शक्ति के सम्बन्ध में अनभिज्ञ थे, वैसे ही दूसरी ओर भैरवी ब्राह्मणी भी अद्वैत वेदान्त के सम्बन्ध में पूरी तरह अनभिज्ञ थीं। हम जानते हैं कि जब ठाकुर तोतापुरी की सहायता से अद्वैत वेदान्त की साधना करने जा रहे थे, भैरवी ब्राह्मणी ठाकुर को सावधान कर देती हैं, "बाबा, उन सब अद्वैतवादी लोगों के साथ इतना मेल-जोल न रखो, इससे तुम्हारी भाव-भक्ति सूख जायगी। उन लोगों के साथ मिलने से भक्ति की हानि होगी।" तो, अद्वैत वेदान्त के सम्बन्ध में जैसे भैरवी ब्राह्मणी को कोई ज्ञान नहीं था, वैसे ही तोतापुरी को भी द्वैतभाव साधना के सम्बन्ध में, शक्ति के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। भैरवी ने अपना ज्ञान का भण्डार ठाकुर के सम्पर्क में आकर बढाया था। उसी प्रकार तोतापुरी ने भी ठाकुर के सान्निध्य में आकर शक्ति सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर अपना ज्ञान और अधिक समृद्ध किया था।

ब्रह्म और शक्ति की अभिन्नता के सम्बन्ध में ठाकुर कहते हैं, "ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं। एक को मानने से ही दूसरे को मानना होगा। जैसे अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति; अग्नि को मानने से ही दाहिकाशक्ति को मानना होगा। दाहिकाशक्ति को छोड़कर अग्नि की

कल्पना नहीं की जा सकती; फिर अग्नि को छोड़कर दाहिकाशक्ति की भी कल्पना नहीं की जा सकती। सूर्य को छोड़कर सूर्य की रश्मि की कल्पना नहीं की जा सकती; फिर सूर्य की रश्मि को छोड़कर सूर्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"

कहा जाता है—'शक्ति-शक्तिमतोः अभेदः' अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् दोनों अभिन्न हैं। वस्तु एक ही है, उसके एक पहलू को लक्ष्य कर हम कहते हैं 'शक्ति', फिर उसी के दूसरे पहलू को लक्ष्य कर कहा जाता है 'शक्तिमान्'। शक्ति का जो वैचित्र्य है, उसे अस्वीकार नहीं किया जाता। लेकिन यह न मानने पर कि उस वैचित्र्य के पीछे एक निरपेक्ष सत्ता है, जिसके भीतर कोई परिवर्तन नहीं घटता, शक्ति का वह वैचित्र्य समझा नहीं जा सकता। एक स्थायी सत्ता को मानना ही पड़ेगा। फिर साथ ही इस स्थायी सत्ता की जो विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्तियाँ होती हैं, उन्हें भी स्वीकार करना होगा।

परिणामवाद और विवर्तवाद

दार्शनिक लोग कहते हैं कि अभिव्यक्ति के दो प्रकार हैं। कोई कोई कहते हैं कि ब्रह्म का परिणाम होता है, और दूसरे कहते हैं कि ब्रह्म का विवर्त होता है। असल बात यह है कि चाहे परिणाम कहें या विवर्त, यह सब बात की बात है। जो लोग परिणाम कहते हैं, वे पार्थक्य को प्रत्यक्ष देखते हैं, उन्हें लगता है कि ब्रह्म परिवर्तित हुआ है। दूसरी ओर अद्वैत वेदान्तवादी कहते हैं, जिसमें भी परिणाम या परिवर्तन होता है वह नश्वर है, वह नित्य नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म का परिणाम होता हो तो वह

कभी भी नित्य नहीं हो सकता, वह अनित्य हो जाएगा। अतः फिर उसमें ब्रह्मत्व नहीं रह जाएगा। इस दोष के कारण परिणाम की जो प्रतीति होती है, उसे वास्तविक परिणाम न कह वे प्रतीति मात्र कहते हैं। और उसके लिए एक दार्शनिक शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसे 'विवर्त' कहते हैं। विवर्त में तत्त्व परिवर्तित नहीं होता। परिणाम में तो तत्त्व ही परिवर्तित हो जाता है, जैसा कि एक श्लोक में कहा गया है—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदाहृतः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीर्यते॥

—अर्थात् तत्त्व यदि परिवर्तित न हो, वह एक होता हुआ भी अनेक प्रतीत हो, तो उसे विवर्त कहते हैं; और यदि तत्त्व भी परिवर्तित हो जाय, तो उसे विकार या परिणाम कहते हैं। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है, दूध परिवर्तित होकर दही के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है। दूध अब दूध नहीं रहा, दही हो गया। इसे कहा जाता है विकार या परिणाम। और विवर्त का दृष्टान्त है—एक रस्सी है, वह कभी साँप के रूप में दिखती है, तो कभी लाठी के रूप में, कभी माला, तो कभी जलधारा के रूप में, और कभी तो ऐसा लगता है मानो जमीन फट गयी है। यह जो अनेक प्रकार की उस रस्सी की प्रतीति है, उससे रस्सी के रूप में परिवर्तन नहीं होता। रस्सी तो जैसी रस्सी है वैसी ही रहती है। इसे कहते हैं विवर्त।

हमारी दृष्टि में यह वैचित्र्यमय जगत् ब्रह्म का चाहे विवर्त हो, चाहे परिणाम, उससे कुछ आता-जाता नहीं क्योंकि असल बात यह है कि जो वस्तु शब्द से अतीत है, उसको हम शब्द के द्वारा समझाने की चेष्टा मात्र करते

हैं किन्तु समर्थ नहीं हो पाते ।

शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म एक, अद्वितीय होकर भी अनेक रूपों में प्रतीत हो रहा है । उसकी अनेक रूपों में प्रतीत होने की यह जो शक्ति है, उसे अचिन्त्यशक्ति कहा जाता है; उसी को सृष्टि-स्थिति-लयकारिणी शक्ति कहा जाता है । जैसे ब्रह्म अचिन्त्य है, वैसे ही उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है, ,क्योंकि इस शक्ति को बुद्धि के द्वारा नापा नहीं जा सकता । जैसे हम अपनी बुद्धि के द्वारा ब्रह्म को नहीं नाप सकते, वैसे ही उसकी शक्ति को भी । इसलिए ये दोनों हमारे तर्क से अतीत हो जाते हैं और वहाँ पर हम इन दोनों तत्त्वों का पार्थक्य नहीं सोच पाते । इसलिए कहते हैं कि दोनों एक हैं, अभेद हैं । जैसे ब्रह्म तर्कातीत है, वैसे ही उसकी शक्ति भी । और चूँकि दो तर्कातीत वस्तुओं को तर्क की सहायता से अलग अलग करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसीलिए उन्हें हम अभिन्न कहते हैं ।

श्रीरामकृष्ण की उपमा और व्याख्या

ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म की वह शक्ति कभी सक्रिय है तो कभी निष्क्रिय । 'कभी' कहकर समय की बात नहीं कही जा रही है, वह कहा जा रहा है किसी व्यक्ति की अवस्था-विशेष के सन्दर्भ में । 'कभी निष्क्रिय है' यह कहने से समझना होगा कि किसी व्यक्ति के लिए एक विशेष अवस्था में वह निष्क्रिय है, फिर उसी व्यक्ति के लिए अन्य अवस्था में वह सक्रिय है । इन दो अवस्थाओं को ध्यान में रखकर कहा जाता है ब्रह्म अथवा शक्ति–– यही बात ठाकुर समझा रहे हैं । वे कह रहे हैं––जब वह सृष्टि-स्थिति-लय करता है, तब उसे शक्ति कहते हैं,

और जब वह सृष्टि-स्थिति आदि कुछ भी नहीं करता, तब उसे ब्रह्म कहते हैं। ये 'जब' और 'तब' दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य किससे है—क्या समय से ? यदि ऐसा हो, तब तो ब्रह्म की शक्ति का यह जो प्रकाश है, वह काल के द्वारा घिर जाएगा, परिमेय हो जाएगा। लेकिन काल के द्वारा उसका परिमाप नहीं होता। अतः हमें समझना होगा कि साधक की अवस्थाविशेष के अनुसार प्रतीति के तारतम्य की बात कही जा रही है। अर्थात् 'जब' माने 'जिस अवस्था में' और 'तब' माने 'उस अवस्था में'। ऐसा बतलाने से शायद बात समझने में सरल होगी।

हम यह बात क्यों कह रहे हैं ? जगत् के सम्बन्ध में हमारी धारणा है कि उसकी सृष्टि होती है, स्थिति होती है और उसका लय होता है। लेकिन यह धारणा अत्यन्त सीमित है, क्योंकि यह मात्र उसी जगत् के सम्बन्ध में है, जिसकी हम उपलब्धि करते हैं। हम यह कैसे कह सकते हैं कि और भी इसी प्रकार के अनन्त जगत् नहीं हैं ? ठाकुर ने कहा था—"जगत् क्या इतना सा है ? वर्षाकाल में गंगा में केंकड़े होते हैं, जानते हो ? उसी प्रकार असंख्य जगत् हैं।" अतएव हमारे सामने देश-काल आदि से परिच्छिन्न जो जगत् प्रतीत होता है, उस प्रकार के अनन्त जगत् हैं। जब एक जगत् में प्रलय होता है, तब सम्भव है, दूसरे जगत् में सृष्टि की धारा चल रही हो। ऐसे प्रलय को खण्डप्रलय कहा जाता है। महाप्रलय इससे भिन्न है। महाप्रलय की अवस्था में सृष्टि कहीं भी नहीं रहती। कैसे जानेंगे कि तब सृष्टि कहीं भी नहीं रहती है ? कौन बता सकता है कि समस्त सृष्टि का लोप हुआ

कि नहीं ? कोई नहीं बता सकता। इसलिए इस प्रकार से उसे समझने की चेष्टा न कर साधक के अनुभव के भीतर उसे समझना होगा।

साधक शक्ति के राज्य के अधीन

सृष्टि-स्थिति-प्रलय का अर्थ क्या है ? कार्य का कारण में लय होता है। कार्य स्थूल वस्तु है और कारण सूक्ष्म। तो, स्थूल का सूक्ष्म में लय होता है। फिर कारण महाकारण में लीन हो जाता है। यह जो लय होना है, वह किसी काल के द्वारा परिच्छिन्न होनेवाली बात नहीं है। इसे अवस्था का विभाजन मानने पर कह सकते हैं कि जिस अवस्था में हमें स्थूल जगत् की प्रतीति नहीं हो रही है, उस अवस्था में स्थूल जगत् सूक्ष्म में लय को प्राप्त हो गया है; तथा मन की जिस अवस्था में सूक्ष्म जगत् की प्रतीति नहीं होती, उस अवस्था में सूक्ष्म जगत् कारण में लीन हो गया। मन की जिस अवस्था में कारण की भी प्रतीति नहीं होती, उस अवस्था में कारण महाकारण में अर्थात् कारणातीत सत्ता में, जिसे तुरीय कहा जाता है, लीन हो गया, ऐसा माना जाएगा। कारणतीत सत्ता है इसीलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण का क्रमविकास होना सम्भव होता है। अतः हमें अपने आप को छोड़कर, अर्थात् द्रष्टा अथवा अनुभवकर्ता को छोड़कर स्वतंत्र रूप से जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय अवस्थाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए वेदान्त कहता है कि सृष्टि-स्थिति-प्रलय की यह सब जो बात शास्त्रों में है, वह केवल हमें अद्वय ब्रह्मतत्त्व में पहुँचा देने का उपाय है। 'माण्डूक्यकारिका' (३/१५) में कहा गया है—

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥

——यह जो मृत्तिका (छा. उ. ६।१।४), लौहखण्ड (छा उ. ६।१।५) या विस्फुलिग (मु. उ. २।१।१) का दृष्टान्त देकर सृष्टि की बात को अनेक प्रकार से कहा गया है, वह केवल उस ब्रह्मज्ञान की बात को समझाने के लिए ही, जीव और ब्रह्म के ऐक्य को बुद्धि में प्रतिष्ठित करने के लिए ही, उसका अन्य और कोई तात्पर्य नहीं है। वास्तव में ब्रह्म में कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण अवस्थाओं की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यही बात इस माण्डूक्यकारिका में कही गयी है। यदि ऐसा है, तो जगत्-कारणत्व को हमारी इस जगत्-अनुभूति की अपेक्षा है, क्योंकि जगत्-अनुभूति ही जगत्-कारणत्व का आधार है। अतः जब तक हम जगत्-स्रष्टा तक की कल्पना करते हैं, तब तक हम 'शक्ति के राज्य' में हैं। जहाँ तक साधन का स्तर चल सकता है, वहाँ तक शक्ति का राज्य है। और अगर कोई साधना के समस्त सोपान पार कर स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, ब्रह्मस्थ होता है, वह शक्ति का इलाका पार कर जाता है।

बात यह है कि उस सत्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न सोपानों की आवश्यकता होती है। विभिन्न स्तरों पर एक-एक पग आगे बढ़ते हुए हम अन्त में लक्ष्य में पहुँच जाते हैं। प्रत्येक सोपान हमारे लिए आवश्यक है। ऐसा न होने से छत पर चढ़ जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। और जब छत पर पहुँच गये, तब सीढ़ियों को अवास्तविक कहने की भी कोई सार्थकता नहीं है। सीढ़ियों के रहने से ही

हमारा छत पर पहुँचना सम्भव हो सका। शक्ति का राज्य है इसलिए हम शुद्ध-ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो सकते हैं, और होना सम्भव है। यदि वह न होता, तो फिर शुद्ध-ब्रह्म की भी कोई सार्थकता न रहती। कौन उसे जानता? वह तो स्व-स्वरूप में ही अवस्थित रहता। और हम जो उसकी जगत्-कारण इत्यादि कहकर व्याख्या कर रहे हैं, वह सब अर्थहीन हो जाती है, क्योंकि हमारी ये सब बातें शक्ति के ऊपर ही निर्भर करती हैं।

ठाकुर कहते हैं, "ब्रह्म को छोड़कर शक्ति की, शक्ति को छोड़कर ब्रह्म की धारणा नहीं की जा सकती। नित्य को छोड़कर लीला की, लीला को छोड़कर नित्य की धारणा नहीं की जा सकती।"

श्रीरामकृष्ण--ब्रह्म और शक्ति, नित्य और लीला

ठाकुर 'शक्ति' और 'ब्रह्म' ये दो शब्द कहते हैं। उसके तुरन्त बाद ही शब्द बदलकर कहते हैं--'लीला' और 'नित्य'। लीला माने परिवर्तन, और परिवर्तन कहने से ही बोध होता है कि उसके पीछे एक अपरिवर्तित सत्ता है। वह न होने से किसकी तुलना में परिवर्तन होगा? इसीलिए 'परिवर्तन' शब्द कहने के साथ ही साथ एक और तत्त्व आ जाता है, जो अपरिवर्तनशील है। उसी को पृष्ठभूमि में रख, उसके साथ तुलना करके हम परिवर्तन का अनुभव करते हैं। ऐसा न हो तो परिवर्तन कहने के लिए कोई वस्तु रह नहीं जाती। हम ट्रेन से जा रहे हैं। जैसे वह ट्रेन चल र ी है, ठीक वैसे ही यदि उसके आसपास की जमीन, वृक्ष, घर आदि चलने लगते, तब तो ट्रेन का चलना समझ में न आता। ट्रेन चल रही है, इस वाक्य का भी प्रयोग नहीं होता, क्योंकि तब

सारा दृश्य एक ही प्रकार का दिखायी देता । लेकिन जब हम देखते हैं कि हम ट्रेन में बैठे हुए हैं और वृक्ष आदि अपना स्थान बदल रहे हैं, घर-मकान सब सरकते जा रहे हैं, तब हमें लगता है कि परिवर्तन हो रहा है । परिवर्तन में कौन-सा स्थायी है और कौन-सा अस्थायी, यह बाद की बात है । हमारा कहना यह है कि बिना एक स्थायी वस्तु की धारणा किये हम किसी अस्थायी वस्तु का, परिवर्तन का अनुभव नहीं कर सकते । इसी प्रकार बिना अस्थायी वस्तु की कल्पना के हम किसी स्थायी वस्तु की भी कल्पना नहीं कर सकते; क्योंकि स्थायी और अस्थायी ये ऐसे दो शब्द हैं, और अर्थबोध के लिए परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि एक को छोड़ दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती ।

नित्य और लीला भी ठीक इसी प्रकार है । भगवान् की यह जो सृष्टि-स्थिति-लय-लीला चल रही है, इस लीला का तात्पर्य है परिवर्तन । यदि हम एक स्थायी वस्तु की, नित्य वस्तु की धारणा न करें, तो इस परिवर्तन की कल्पना ही नहीं कर पाएँगे । अतएव नित्य को छोड़कर लीला की कल्पना नहीं की जा सकती । फिर लीला को छोड़कर नित्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसा कि हम पहले कह आये हैं । इस प्रकार शक्ति को छोड़कर ब्रह्म की कल्पना नहीं की जा सकती; ब्रह्म को छोड़कर शक्ति की भी कल्पना नहीं की जा सकती । दोनों इस प्रकार अंगांगीरूप से सम्बद्ध हैं, ऐसे अभेद सम्बन्ध से जुड़े हैं कि एक को छोड़कर दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती । अतः इस दृष्टि से ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं ।

फिर भी कई बार हम लोग इस दृष्टिकोण में मानो

बिना थोड़ा दार्शनिक सामंजस्य रखे कह देते हैं कि यह जो परिवर्तन है, वह मिथ्या है और जो अपरिवर्तनीय है, केवल वही सत्य है; क्योंकि हम अपने जागतिक अनुभवों से जानते हैं कि जो कुछ परिवर्तनशील है, वह अनित्य है। लेकिन यह परिवर्तन, यह लीला यदि प्रवाहाकार में नित्य हो, तब हमें भला क्या आपत्ति हो सकती है? हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह असम्भव है। असल बात यह है कि जिस सीमित दायरे में हमने जानकारी इकट्ठी की है, उसी पर हमारी युक्ति आधारित है, उससे अधिक की कल्पना हम नहीं कर पाते। इसी कारण शास्त्र कहते हैं, 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'—जो विषय विचार से अतीत हैं, उनका निर्णय तुम तर्क के आधार पर करने मत जाओ, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हें भ्रमित होना होगा। तर्क जहाँ पर नहीं पहुँच सकता, वहाँ हम यदि तर्क का प्रयोग करें, तो वह तर्क का दुरुपयोग है। हम तर्क का बेमौके प्रयोग करते हैं, अतः तर्क वहाँ बाधित होता है। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जो अचिन्त्य है, उसे तर्क के द्वारा संयुक्त करने की चेष्टा न करो। ब्रह्म और शक्ति दोनों ही अचिन्त्य हैं, क्योंकि जगत् का जो सूक्ष्मतम तत्त्व है, उसे ही यदि शक्ति कहें तो उस शक्ति के स्वरूप की कल्पना हम नहीं कर सकते। फिर देश-काल-निमित्त से अतीत जो सत्ता है, उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। फलस्वरूप यदि तर्क के द्वारा उस तत्त्व को समझने की चेष्टा करेंगे, तो वह सम्भव नहीं होगा। अतएव युक्ति की सहायता से शक्ति को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास एक व्यर्थ का प्रयास मात्र है।

शक्ति सत्य है या मिथ्या ?—यह प्रश्न एक कूट दार्शनिक प्रश्न मात्र है। तर्क के द्वारा इसकी मीमांसा नहीं हो सकती। अनुभव के आधार पर ही इसकी मीमांसा हो सकती है। ठाकुर अनुभव की दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित होकर कहते हैं—शक्ति और ब्रह्म दोनों सत्य हैं। कहते हैं—असल में दो वस्तुएँ हैं ही नहीं। जिसे शक्ति कहते हैं, उसे ही ब्रह्म कहते हैं। हम दो अवस्थाओं को देखकर केवल समझने की सुविधा के लिए दो नाम देते है। वास्तव में ये दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जो ब्रह्म हैं, वही शक्ति है; जो शक्ति है, वही ब्रह्म है। इन दोनों में रंचमात्र पार्थक्य नहीं है। इस दो से द्वैत की सृष्टि नहीं होती। दो दृष्टिकोणों से देखने पर हमारी बुद्धि में जैसा प्रतिभासित होता है, उसके अनुसार हम कहते हैं ब्रह्म अथवा शक्ति। जब वह सृष्टि-स्थिति-लय करता है, तब कहते हैं शक्ति। और जब सृष्टि-स्थिति-लय नहीं करता, तब उसे कहते हैं ब्रह्म। ठाकुर इस बात को इतना सरल बनाकर इसलिए कह रहे हैं, जिससे वह हमें अनायास ही बोधगम्य हो जाय। उनके इस तरह न कहने से ढेरों शास्त्र पढ़कर भी इस साधारण बात की धारणा करना हम-जैसे लोगों की बुद्धि के लिए सम्भव न होता।

कालीतत्त्व

यही बात ठाकुर फिर कह रहे हैं—"आद्याशक्ति लीलामयी है; सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती है। उसी का नाम है काली। काली ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही काली है। दोनों एक ही वस्तु हैं। जब वह निष्क्रिय है—सृष्टि-स्थिति-प्रलय कुछ नहीं करता इस बात का जब हम

विचार करते हैं ('इस बात का जब हम विचार करते हैं' ये शब्द विचारणीय हैं, इसकी व्याख्या हम पूर्व में ही कर चुके हैं), तब उसे ब्रह्म कहकर पुकारते हैं । जब वह यह सब कार्य करता है (अर्थात् करता है ऐसा हम सोचते हैं), तब उसे काली कहते हैं, शक्ति कहते हैं। व्यक्ति एक ही है—नाम-रूप का भेद है । जैसे 'जल', 'वाटर', 'पानी' ।

जैसा-जैसा हम अनुभव करते हैं, वैसा ही एक-एक नाम देते हैं । जब जैसी हमारी बुद्धि की दौड़ होती है या दृष्टिकोण रहता है, तदनुसार हम या तो 'काली' कहते हैं या 'आद्याशक्ति' या 'ब्रह्म' । इससे तत्त्व में भेद नहीं हो जाता । इस बात को यहाँ पर 'जल', 'वाटर', 'पानी' का दृष्टान्त देकर समझाते हैं । जल को यदि वाटर कहा जाय, तो वस्तु भिन्न नहीं हो जाती । केवल हमारी भाषा में पार्थक्य होता है । कोई जल कहते हैं, कोई वाटर, कोई पानी । क्यों कहते हैं ? हमने जैसा सीखा है, हमारे जैसे संस्कार हैं, हमारा जैसा अभ्यास है, उसी के अनुसार हम शब्द-प्रयोग करते हैं । जब हम अपने संस्कार के अनुरूप देखते हैं कि वह जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर रहा है, तब उस दृष्टिकोण से हम उसे 'शक्ति' कहते हैं । और जिस अवस्था में हम निष्क्रिय सत्ता में प्रतिष्ठित होते हैं, तब उसे लक्ष्य करके कहते हैं 'ब्रह्म' । केवल शब्दों का भेद है, तत्त्व में कोई भेद नहीं । ठाकुर यहाँ इस बात पर बहुत जोर देकर कह रहे हैं ।

इसके पश्चात् की बात कही जा रही है । केशव कह रहे हैं , "काली कितने प्रकार से लीला कर रही है, यह जरा एक बार कहिए न ।"

केशव ने ये सब बातें ठाकुर से सुनी हैं। उन्हीं की पुनरावृत्ति कराना चाहते हैं, जिससे वे फिर से सुनकर उन बातों का और भी आस्वादन करेंगे तथा अन्य भक्तों को भी सुनाएँगे—यही उनका उद्देश्य है। हमें पहले से ही ध्यान में रखना होगा कि 'काली' कहने से ठाकुर का अभिप्राय क्या है। इस प्रसंग में रामप्रसाद का भी कथन है—'काली ब्रह्म जेने मर्म धर्माधर्म सब छेड़ेछि'—'काली और ब्रह्म ये दो भिन्न नहीं हैं, यह जान गया हूँ; यह जानकर धर्म-अधर्म अर्थात् सब प्रकार की उपाधि का परित्याग कर मैं निर्विशेष तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया हूँ।' वे एक दूसरे स्थान पर कहते हैं—'मातृभावे आमि तत्त्व कोरि जाँरे। सेटा चातरे कि भाँगबो हाँड़ि, बोझो ना रे मन ठारे ठारे' (मैं मातृभाव से जिसकी आराधना करता हूँ, उसके तत्त्व का भण्डा क्या मुझे चौराहे पर फोड़ना होगा? मन इशारे से ही समझ लो)। अभिप्राय यह है कि 'माँ' कहें, 'काली' कहें, 'शक्ति' कहें या या विभिन्न देवी-देवता के रूप में उस तत्त्व का वर्णन करें, वास्तव में वह वही एक ब्रह्म है—इस बात को क्या और अधिक खोलकर कहना पड़ेगा!

समाधि में शक्ति के राज्य से बाहर

इस प्रकार हमने देखा कि जब तक कोई साधना करना है, तब तक अर्थात् उस चरम तत्त्व तक पहुँचने के पूर्व तक वह शक्ति के राज्य में रहता है। जब वह निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाता है, तब ही कहा जा सकता है कि वह शक्ति के राज्य से बाहर चला गया। लेकिन जब वह फिर से साधारण भूमि में लौट आता है, तब भी शक्ति के राज्य में ही रहता है। तभी तो तोतापुरी ब्रह्मज्ञ होकर

भी इच्छा मात्र से स्वयं को उस समाधि में प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि आद्याशक्ति महामाया रास्ता नहीं छोड़ रही है। तोतापुरी यह बात नहीं समझते थे—नहीं समझते थे कि शक्ति की कृपा से ही उन्हें निर्विकल्प समाधि हुई है। वे यह बात जानते नहीं थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि उनका ब्रह्मावगाही मन बार-बार प्रयत्न करके भी त्रिगुण के राज्य को छोड़कर तुरीयसत्ता में प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहा है, तब वे विस्मित होकर विचार करने लगे—यह क्या हो रहा है! मेरे मन ने तो कभी भी मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, फिर आज ऐसा क्यों हो रहा है? जो हो, उन्होंने सोचा कि शरीर ही इसका कारण है, इसलिए उसका विसर्जन कर देना चाहिए। तब वे यह भी नहीं समझते थे कि शरीर को छोड़ना या रखना—इसमें भी वे स्वतंत्र नहीं हैं, यहाँ भी महामाया का शासन है, शक्ति का राज्य है। वे शरीर-त्याग करने के लिए जाते हैं। वर्णन आता है कि रुग्ण देह को विसर्जित कर देने के लिए वे गम्भीर रात्रि में गंगा में जाते हैं। धीरे-धीरे वे गंगा में उतरते हैं और क्रमशः गहरे जल में प्रवेश करते हैं। लेकिन डूबने लायक जल कहीं नहीं पाते। चलते-चलते लगभग दूसरे किनारे पर चले गये, तब भी उन्हें डूबने लायक जल नहीं मिला। तब वे अवाक् होकर सोचने लगे, "यह कैसी दैवी माया है! डूब मरने लायक जल भी आज गंगा में नहीं है! यह कैसी अपूर्व लीला है!" ज्योंही यह बात मन में उठी—और यही अन्तिम सोपान है—त्योंही उन्हें जगन्माता की सत्ता की अनुभूति हुई। वे जल में, थल में, देह में, मन में—सर्वत्र उस आद्याशक्ति की लीला का अनुभव करने लगे। वे समझ गये कि जब तक मनुष्य

शरीर के भीतर है, तब तक आद्याशक्ति की इच्छा के बिना उसके प्रभाव से मुक्त होने की सामर्थ्य किसी में नहीं है—मरने की भी सामर्थ्य नहीं है। और तब उन्हें उस आद्याशक्ति की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा, वे उस आद्याशक्ति को जगन्माता के रूप में ग्रहण करने को विवश हुए। श्रीरामकृष्ण के गुरु के रूप में उनके आने की जो सार्थकता थी, वह यहीं पर उन्हें परिपूर्ण रूप से प्राप्त हुई। हमने पहले ही कहा है कि जो भी श्रीरामकृष्ण के गुरु के रूप में आये, वे सभी उनके पास आकर किसी न किसी प्रकार अपनी अपूर्णता को दूर कर पूर्णता लाभ करने में समर्थ हुए थे। हमने यहाँ पर तोतापुरी का पूर्णता-लाभ का प्रसंग देखा।

ज्ञानिनाम् अपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।'
(श्रीश्रीचण्डी, १।५५-५६)

—अर्थात् देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह से ढक लेती है। 'ज्ञानिनाम् अपि चेतांसि'—कोई भी नहीं छूटता। शरीरधारी मात्र को, चाहे वह कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, महामाया अपनी इच्छानुसार अपने हाथ की पुतली बनाकर नचा सकती है। 'मैं उन्नत साधक हूँ'—ऐसा गर्व करने के लिए, अभिमान करते हुए सिर ऊँचा करने के लिए कोई स्थान नहीं है।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (८)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर, बिहार में कार्यरत हैं।——स०)

(गतांक से आगे)

पाठक——आपने मन की बात कही थी। मन तो बड़ा ही शक्तिशाली है! देखता हूँ मन ही तो सब कुछ है। क्या मन के ऊपर रामकृष्णदेव का कोई अधिकार नहीं है?

भक्त——मन सर्वेसर्वा नहीं है; सर्वेसर्वा तो रामकृष्णदेव हैं। जिस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रियों के मुँह में लगाम लगा उनके ऊपर सवार हो घूमता फिरता है, उसी प्रकार रामकृष्णदेव मन के मुँह में लगाम लगा उसकी पीठ पर सवार हो घूमते फिरते हैं। रामकृष्ण मन को जो कहते हैं, मन वही करता है। मन जो इतनी उछल-कूद मचाता फिरता है, नाचता, कूदता, शेखी मारता, तरह-तरह का पाखण्ड दिखाता फिरता है, वह केवल रामकृष्णदेव की इच्छा से, उनकी शक्ति से। वह किस प्रकार जानते हो?——हण्डी में पानी, चाँवल, दाल डालकर उसे आग पर चढ़ाने से थोड़ी देर में चाँवल, दाल उछलने लगते हैं। वे जो कूदते हैं, वह अपने बल पर नहीं, वह आग के बल पर। उसी प्रकार शरीररूपी हण्डी के भीतर मन-बुद्धि जो उछल-कूद मचाते फिरते हैं, वह अपने बल पर नहीं, वह रामकृष्णदेव

की शक्ति के बल पर। यह उपमा ठाकुर की ही उपमा है।

पाठक—ठाकुर ने जब यह उपमा देकर समझाया था, तब क्या उन्होंने कहा था कि जीव के शरीर में मन-बुद्धि जो कूदते-फिरते हैं, वह उनके बल पर?—न माँ-काली के बल पर? वे तो काली को छोड़ और कुछ नहीं जानते थे।

भक्त—उन्होंने कहा था, माँ-काली के बल पर कूदते-फिरते हैं। ईसामसीह ने जैसे स्वयं पिता हो सभी विषयों में पिता की शक्ति, पिता की इच्छा, पिता की महिमा कहकर पिता की दुहाई दी थी, उसी प्रकार रामकृष्णदेव स्वयं वही माँ होकर, वही राम और वही कृष्ण होकर, माँ की शक्ति, माँ की इच्छा, माँ की महिमा कहते; फिर कृष्ण की इच्छा, कृष्ण की शक्ति कहते अथवा कभी-कभी राम की शक्ति, राम की इच्छा कहते थे। वे भले ही अन्य नामों की दुहाई देकर कहते थे, किन्तु उन्होंने मुझे दिखाया कि वे ही वही हैं। मैं न काली को जानता हूँ, न राम को और न कृष्ण को ही जानता हूँ। मैं जानता हूँ रामकृष्ण को। फिर रामकृष्ण को पकड़कर काली को भी जानता हूँ, राम को भी जानता हूँ और कृष्ण को भी जानता हूँ।

रामकृष्ण को छोड़कर मुझे अन्य कोई ज्ञान नहीं है। एक समय मैंने उन्हें विग्रह के रूप में देखा था, अब मैं उन्हें विराट्-रूप में देखता हूँ। इस जीव-जगत् में उन्हें ही देख पाता हूँ। तुम तो अच्छी तरह जानते हो कि मैं मूर्ख हूँ। मैंने रामायण-महाभारत भी नहीं पढ़ा, कोई साधना भी नहीं की और न कोई कर्म ही किया। मेरे सम्बल राम-कृष्णदेव हैं। तुम ईश्वर का जो कोई भी नाम क्यों न लो, मैं उस नाम के भीतर रामकृष्ण को ही देख पाता हूँ। अतः

रामकृष्ण और उनकी शक्ति को छोड़कर मैं भला और क्या बोलूँगा ?

पाठक—मन की शैतानी दूर किये बिना जब कोई काम ही नहीं होने का, तब मन को समझें किस प्रकार और उसे पकड़ें कैसे ? मन को जानने की मेरी बड़ी इच्छा हो रही है ।

भक्त—रामकृष्णदेव की महिमा देखो ! उनके दर्शन-लाभ की महिमा देखो ! उनके लीला-श्रवण-कीर्तन का माहात्म्य देखो ! साक्षात् महिमा, मूर्तिमान् महिमा !

इन लाखों-करोड़ों लोगों के बीच कितने ही शास्त्रों में पारंगत बड़ी-बड़ी उपाधिवाले पण्डित हैं, कितने ही राजभाषाविद्, नीतिज्ञ, वैज्ञानिक आदि बड़े-बड़े पदाधिकारी गण्यमान्य व्यक्ति हैं, कितने ही कुबेरतुल्य अतुल धन-सम्पत्तिशाली धनाढ्य लोग हैं, कितने ही नाना वेशधारी वन्दनीय धर्मवेत्ता हैं, किन्तु थियेटरवाला होते हुए भी तुमने उच्च ईश्वरीय तत्त्व को समझने और जानने के लिए जो व्याकुलता प्रदर्शित की है तथा कर रहे हो, ऐसी व्याकुलता इन लाखों-करोड़ों लोगों के बीच कितने लोगों को हुई है ? तुम महान् भाग्यशाली हो, तुम धन्य हो तथा धन्य है रामकृष्णदेव की महिमा ! प्रभु रामकृष्ण की जिस कृपाशक्ति के फलस्वरूप तुम्हारे मन में इस प्रकार के महान् तत्त्व का उदय हुआ है, वह शक्ति ही तुम्हें मन के सम्बन्ध में समझा-बुझा देगी । रामकृष्णदेव परम दयालु हैं । उनके प्रति शरणागत होने से वे मन की दुष्टता दूर कर देंगे । तुम उन्हें केवल पकड़े बैठे रहो ।

पाठक—उन्हें पकड़े कैसे बैठे रहें ?

भक्त—ठाकुर की मूर्ति का स्मरण करो, उनसे भक्ति-

विश्वास के लिए प्रार्थना करो तथा उनके लीला-गुण का कीर्तन और श्रवण करो ।

पाठक——क्या यह करने से ही होगा ? और कुछ नहीं करना पड़ेगा ? मैंने तो सुना है, बहुत साधन-भजन करने से तब कुछ होता है ।

भक्त——भाई ! तुम अभी भी रामकृष्ण के दर्शनों का फल कुछ भी नहीं समझ पाये हो । रामकृष्ण-लीला-चरित्र का श्रवण-मनन कैसे एक उच्च प्रकार का साधन-भजन है, तुम अब भी नहीं जान पाये हो । श्रीरामकृष्णदेव की प्रतिमा को तुम लोग फूल और माला द्वारा जो सजाते हो, उससे बढ़कर उच्च साधना मैं और कुछ नहीं जानता । साधन-भजन के बिना कुछ नहीं होता यह मैं जानता हूँ और रामकृष्णदेव भी कुछ साधन-भजन कराये बिना छोड़ते नहीं, परन्तु रामकृष्णदेव जो साधना कराते हैं, वह बड़े मजे की साधना है । उस साधना में मनुष्य को श्रम नहीं लगता, उसमें बड़ा उत्साह, बड़ा आनन्द है । वह किस प्रकार का, जानते हो ? जैसे एक व्यक्ति की वृन्दावन जाने की इच्छा हुई, राधाकृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा जगी, पर उसके पास मार्ग-व्यय नहीं है, जाने की शक्ति भी नहीं है, केवल इच्छा ही है । अब वह घूमते-घूमते संयोग से एक सम्पत्तिवान् व्यक्ति के पास आ पहुँचा । वे उसकी इच्छा सुनकर बोले——चलो, मेरे साथ चलो । अपने साथ हावड़ा स्टेशन ले जाकर उन्होंने उसे वृन्दावन का एक टिकट खरीदकर दे दिया, एक हण्डी में रास्ते में खाने के लिए सामग्री भी दे दी, और फिर एक दरी का भी प्रबन्ध कर दिया और कहा——जा, तू अब वृन्दावन जा । राम-कृष्णदेव इसी प्रकार सम्बल प्रदान करके ईश्वर-दर्शन के

लिए भेज देते हैं। रामकृष्णदेव की कृपा से इस प्रकार असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

ठाकुर कहते थे, सरकारी हवा बहने पर हाथ-पंखे की हवा की जरूरत नहीं होती। अभी सरकारी हवा बह रही है, साधन-भजनरूप हाथ-पंखे की हवा की आवश्यकता नहीं है। सरकारी हवा क्या है, समझे ? वह है रामकृष्णदेव की कृपा। वे कहते हैं––मैं अभी सशरीर उपस्थित हूँ। अभी कार्य की आवश्यकता नहीं। परिश्रम बिना ही पकी फसल पा जाओगे। एक दिन हरीश (ठाकुर के एक सेवक) पंचवटी के नीचे बैठे ध्यान कर रहे थे। इधर ठाकुर अपने कमरे से ही यह जान गये। उसी समय वहाँ जाकर उन्होंने हरीश की छाती पर हाथ रख उसका ध्यान भंग कर दिया और हँसते-हँसते कहा, "अरे, किसका ध्यान कर रहा है ? आ, मेरे साथ आ, पका हुआ आम खाना।"

अब बताओ भला, किसी काल में जीव को ऐसा साहस, ऐसी आशा कभी किसी ने दिलायी है ? केवल इन्हीं ठाकुर को देखा है। जो गुरु अनायास ही जीव को इष्ट-दर्शन करा देते हैं, उनकी महिमा मैं क्या कहूँगा ! उनकी बात कहने जाने पर ओठों पर मुहर लग जाती है।

प्रताप हाजरा ठाकुर के पास उसी कालीबाड़ी में रहते थे। हाजरा बड़े तपस्वी थे, जप-तप खूब पसन्द करते थे। माला लेकर जप करने में ही मानो उनका प्राण था। सब समय उनका जप चलता रहता। ठाकुर कितनी ही बार उनके हाथ से माला छीन लेते, माला जपने में कितनी बाधा देते और कहते––यहाँ जब आये हो, तब माँ की इच्छा से सब अपने आप ही हो जाएगा, तीन चुटकियों में काम हो जाएगा। इतनी मेहनत क्यों ? किन्तु हाजरा को

उस बात पर विश्वास नहीं होता था। वे ठाकुर के पास से माला माँग फिर से जप में बैठते। हाजरा ठाकुर के पास बहुत दिनों से थे। जब ठाकुर शिहड़ गाँव में हृदय के यहाँ बीच-बीच में जाकर ३-४ महीने रुकते थे, तब से हाजरा आ जुटे थे। रामकृष्ण-लीला में हाजरा एक बड़े मजे की चीज थे। ठाकुर ने हाजरा के साथ खेल करके उसके माध्यम से अविश्वासी जीव को बड़ी ज्वलन्त शिक्षा दी है और स्वयं के भक्तों को एक लीला दिखायी है। हाजरा यह विश्वास नहीं कर पाये कि ठाकुर की कृपा से मनुष्य खेती किये बिना ही घर बैठे सोलह आना पकी फसल पा लेता है। हाजरा के साथ ठाकुर के खेल को सुनकर इस विलक्षण रामकृष्ण-महिमा को अत्यन्त सहजता के साथ विस्तार से देखा जा सकता है। देखकर बड़े से बड़े अविश्वासी हृदय में भी ठाकुर के पादपद्मों में अटूट विश्वास जागता है, वेदवाक्यों की अपेक्षा गुरुवाक्य की महत्ता, गम्भीरता तथा तुरन्त फल प्रदान करनेवाली शक्ति प्रत्यक्ष होती है। और एक विशेष बात, ठाकुर के प्रति शरणापन्न होने से क्षणमात्र में ईश्वर-लाभ होता है, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

कर्म के पीछे—साधन-भजन के पीछे जिनके कोई कामना रहती, ठाकुर उस कामना की पूर्ति के लिए किसी से कहते—'तुम कालीमन्दिर में तीन दिन तक कुछ तप करो'; किसी दूसरे से कहते—'यदि तीन दिन न कर सको तो एक दिन करो'; किसी तीसरे से कहते—'यदि तुम दूसरा कोई जप-ध्यान न कर सको, तो यहाँ का (अर्थात् ठाकुर का) स्मरण-मनन करो'; किसी चौथे से कहते—'तुम्हें कुछ नहीं करना होगा, यहाँ आने-जाने से ही होगा—आज

जैसे आये, वैसे दो दिन और आना'; किसी पाँचवें से कहते--'तुम एक दिन मंगलवार या शनिवार को आओ, उसी से होगा'। कभी-कभी भावावेश में कहते, "यहाँ आकर जो सरल मन-प्राण से कहेगा कि 'हे ईश्वर, तुम्हारे तत्त्व को अथवा तुमको किस प्रकार जानूँ', वह निश्चित रूप से उनके तत्त्व को पाएगा, पाएगा, पाएगा।" श्रीमुख से उनका एक बार कहना ही तो पर्याप्त था, फिर उन्होंने तीन बार क्यों कहा? उसका तात्पर्य यह है कि आज का जीव एकदम विश्वासहीन है, भक्तिविहीन है, अविद्या-रोग से रुग्ण है, विषय-विष से जर्जरित है, तब भी यदि विश्वास कर ले-- इसीलिए उन्होंने तीन बार कहा। ठाकुर कहते थे--कलि-युग के जीव को सोलह नाच दिखाने पर हो सकता है एक नाच नाचे। इसीलिए ठाकुर ने साधना और कर्म में सोलह नाच दिखाये।

जिन ठाकुर की ऐसी वाणी है, सोचो तो उनकी दया की, करुणा की क्या कोई सीमा है? इस पर भी मनुष्य ने ठाकुर को ग्रहण नहीं किया, उनकी बातों पर कान नहीं दिया। इसका नाम ही जीव है, इसका नाम ही मनुष्य है! हे रामकृष्णदेव! और जो देना हो दो, जहाँ रखना हो रखो, किन्तु ठाकुर! तुम्हारी दुहाई! मनुष्य के समान बुद्धि मत दो तथा ऐसे मनुष्यों के संग मत रखो। यह मनुष्य तो सामान्य धन-मान, यश और पदवी के लिए लालायित है, किन्तु, प्रभु, तुम कहाँ हो, तुम्हें कैसे पाएँ, यह बात कोई नहीं कहता! मनुष्य की बुद्धि ही ऐसी है कि वह सोने को फेंककर काँच को चाहता है, मणियों का हार फेंक विषधर साँप को गले में धारण करता है। जीव की बातों से प्राण सिहर उठते हैं। भाई! मन-प्राण से बोलो, 'जय राम-

कृष्णदेव कीजय !'

सुनो, प्राणों को शीतल करनेवाली ठाकुर की बातों को सुनो। ठाकुर का भण्डार कैसा है, सुनो; ठाकुर कितने दयालु हैं, सुनो; ठाकुर की वाणी कितनी आशा-विश्वास दिलानेवाली है, सुनो; सुनो ठाकुर की महिमा ! एक दिन भावावेश में वे कहते हैं—"अरे, जो एक बार आकर नमस्कार करेगा, उसे फिर भय क्या ? अरे, जो शरणापन्न होगा, उसे कुछ नहीं करना होगा। मैंने बहुत दिनों तक कठोर तपस्या, साधन-भजन करके अपने भीतर एक साँचा तैयार कर रखा है, उस साँचे में डाल दूँगा, बस यों ही गढ़ जाएगा।" इस साँचे की उपमा टकसाल की मशीन से दी जा सकती है। टकसाल में जहाँ एक ओर चाँदी का टुकड़ा डाला कि तुरन्त दूसरी ओर से रानी का चित्र अंकित हो रुपया झलमलाता हुआ निकल आता है। ठाकुर का साँचा भी इसी प्रकार का है। अब समझ लो, भाई ! ठाकुर कैसे हैं ! ठाकुर कौन हैं ! ठाकुर कहाँ के हैं ! अब सोच देखो, तुमने किन ठाकुर का दर्शन किया है, किनका महाप्रसाद खाया है ! साधना के लिए क्या कुछ तुमने बाकी रखा है ? पूर्व जन्मों में तुमने भगवान् के दर्शन के लिए कितनी बार सिर काटकर चढ़ाया था जिसके फलस्वरूप इन ठाकुर का दर्शन पाया। अविद्या के नशे में तुम बहुत दिनों तक घूमते रहे हो, अब उनके दर्शन से नशा दूर हुआ है, केवल उसकी खुमारी थोड़ी बाकी है। ठाकुर के लीला-चरित्र का चिन्तन-मनन करो, उनकी प्रतिमा को फूलों से जी भरकर सजाओ, जी भरकर भोग लगाओ और बगल बजाते हुए नाचो। और बोलो—जय रामकृष्णदेव की जय ! अब तुम लोग मुक्त पुरुष हो। ○ (क्रमशः)

मानस-रोग (३/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर विगत पाँच वर्षों से प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। प्रस्तुत लेख उनके तीसरे प्रवचन का पूर्वार्ध है। इस प्रवचनमाला की चार किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले चार अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

गरुड़जी के सात प्रश्नों में से अन्तिम था—'मानस रोग कहहु समुझाई' (७/१२०/७)। अन्य प्रश्नों का उत्तर तो संक्षेप में दिया गया है, पर इस सातवें प्रश्न का उत्तर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से दिया गया है। कारण यह है कि मनुष्य के मन में दोष इतने अधिक हैं कि संक्षेप में वर्णन करने पर भी उसका पर्याप्त विस्तार हो जाता है। फिर, मानसिक रोगों की एक विलक्षणता है। कल आपके सामने यह बात रखी गयी थी कि शारीरिक रोग तो ऐसे हैं, जो किसी व्यक्ति को हैं और किसी को नहीं, पर मन के रोगों के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति अपवाद नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं—ये रोग तो सबमें विद्यमान हैं—'हहिं सब कें' (७/१२१/२), पर इसके साथ ही वे जोड़ देते हैं—'लखि बिरलेन्ह पाए' (७/१२१/२), पर बिरले व्यक्ति ही अपने मन के दोषों को समझ पाते हैं।

यदि मानस-रोग सभी व्यक्तियों के हों, तो प्रश्न उठता है कि व्यक्ति फिर अलग-अलग क्यों दिखायी देते

हैं ?——कुछ भले प्रतीत होते हैं, तो कुछ बुरे। किसी को हम सज्जन कहते हैं, तो किसी को दुर्जन। यदि मानस-रोग प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान हैं, तब तो सब लोग समान रूप से अस्वस्थ दिखायी देने चाहिए? इसे स्पष्ट करते हुए काकभुशुण्डिजी एक दृष्टान्त देते हैं——

बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।
मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे।। ७/१२१/४

——'विषयरूप कुपथ्य पाकर ये मुनियों के हृदयों में भी अंकुरित हो उठते हैं, तब बेचारे साधारण मनुष्य तो क्या चीज हैं!'

जैसे आप वर्षा और ग्रीष्म ऋतुओं में पृथ्वी में अन्तर देखते हैं। गर्मी के दिनों में पृथ्वी सूखी-सूखी होती है, पर वर्षा ऋतु में जाने कितने प्रकार की घास, कितने प्रकार के रंग-बिरंगे जीव-जन्तु दिखायी देने लगते हैं। वर्षा ऋतु में मेंढकों की जैसी तीव्र टर्राहट सुनायी देती है, वैसी अन्य ऋतुओं में नहीं। फिर दूसरे समय वे उतनी संख्या में दिखायी भी नहीं पड़ते, जितनी कि वर्षा ऋतु में। तो क्या वर्षा होते ही मेंढक और अन्य जीव-जन्तु भी आकाश से बरसने लगते हैं? ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि अन्य ऋतुओं में कुछ जीव-जन्तु और पौधे ऐसे हैं, जो पृथ्वी में समा जाते हैं——पौधे तो बीजों के रूप में और जीव-जन्तु निष्क्रिय होकर निद्रावस्था में। जब वर्षा होती है, तब धरती में समाये हुए बीज अंकुरित हो उठते हैं और जीव-जन्तु भी निद्रा त्यागकर धरती से प्रकट हो सक्रिय हो उठते हैं। ठीक इसी प्रकार दुर्गुणों और दोषों के बीज, पाप के बीज मनुष्य के अन्तःकरण में छिपे रहते हैं। ज्योंही उन्हें विषयों का कुपथ्य प्राप्त होता है कि वे प्रकट हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में कल आपके समक्ष जो बात कुछ स्थूल रूप में रखी गयी थी, उसी को आज कुछ और भी सांकेतिक रूप में प्रस्तुत करना चाहूँगा ।

गोस्वामीजी की जिन चौपाइयों को हमने उद्धृत किया है, उनमें चार दावे किये गये हैं--पहला, 'हहिं सब कें'; दूसरा, 'लखि बिरलेन्ह पाए'; तीसरा, 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे'; और चौथा, 'मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे' । चौथे दावे में कहा गया कि साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या, जो मननशील मुनि हैं, त्यागी और तपस्वी महात्मा हैं, उनके अन्तःकरण में भी विषयों का कुपथ्य होने से मन के दोष अंकुरित होते हुए दिखायी देते हैं । इसके दृष्टान्त हमें 'मानस' के अनेक पात्रों के जीवन में दिखायी देते हैं । किसी के जीवन में हमें क्रोध दिखायी देता है, तो किसी के जीवन में काम, कहीं पर लोभ, तो कहीं पर अभिमान । इन सब पात्रों के जीवन में किन परिस्थितियों में इन रोगों का प्राकट्य हुआ, वह हृदयंगम करने योग्य है ।

कल नारदजी का प्रसंग चल रहा था कि उन्होंने काम, क्रोध और लोभ को जीत लिया । तदनन्तर उनके अन्तःकरण में अहंकार आ गया । जब हम अहंकार के कारण पर विचार करते हैं, तो गोस्वामीजी ने जो यह कहा कि विषय का कुपथ्य पाकर मनुष्य के अन्तःकरण का छिपा रोग प्रकट हो जाता है, वह यहाँ नारदजी पर लागू नहीं होता; क्योंकि विषयों का सम्पर्क पाकर नारदजी में विकार नहीं हुआ । जब कामदेव सुन्दर अप्सराओं को लेकर आया, उस समय यदि नारद के मन में विकार का उदय हुआ होता, तब तो बात समझ में आती कि विषयों का कुपथ्य पाकर दोष अंकुरित हो गये हैं । पर तब तो

नारदजी के जीवन में दोष नहीं आया। उस समय वे काम से मुक्त रहे। किन्तु जब काम पराजित होकर चला गया, उसके पश्चात् उनके अन्तःकरण में अहंकार अंकुरित हुआ। अतएव प्रश्न उठता है कि विषय का सम्पर्क पाकर दोषों के अंकुरित होने का दावा कहाँ तक ठीक है ? इस पर थोड़ा विचार करें।

नारद के साथ व्यवहार में भगवान् शंकर और भगवान् विष्णु की पद्धतियों में थोड़ा अन्तर है। शंकरजी नारद के अहंकार को देखकर उन्हें बड़ी मधुर वाणी में और बड़ी विनम्रता से सावधान करते हैं, लेकिन भगवान् विष्णु दूसरी पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे भी शंकरजी के समान नारद को सावधान करते हुए कह सकते थे कि नारद, तुम-जैसा सन्त जो अहंकार की बुराइयों से परिचित है, यदि अहंकार से ग्रस्त हो जाय, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य क्या होगा ! तुम अहंकार का परित्याग करो। पर वे वैसा नहीं करते, उलटे नारदजी की प्रशंसा कर देते हैं। यह विचारणीय है। भगवान् शंकर की चेष्टा यह थी कि नारद के अहंकार को किसी न किसी तरह मिटाया जाना चाहिए। पर उनके सामने एक समस्या थी, जिसकी चर्चा कल की जा रही थी। मानस-रोगी की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अपने को रोगी नहीं मानता। वैद्य उसी को दवा दे सकता है, जो अपने को रोगी मानता है। शंकरजी नारद को दवा इसलिए नहीं दे पाते कि नारदजी अपने को उनके सामने रोगी के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, उलटे वे तो स्वयं को एक ऐसे स्वस्थ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसने दोषों और दुर्बलताओं को जीत लिया है। नारद उन्हें घुमा-फिराकर मानो यह संकेत देते हैं कि मैं तो आपकी अपेक्षा

भी स्वस्थ हूँ । मैंने तो काम ,क्रोध, लोभ तीनों को जीत लिया, जबकि आप क्रोध को नहीं जीत पाये थे । संकेत यह था कि आपमें थोड़ी अस्वस्थता बनी ही हुई है । अब, यदि रोगी वैद्य को ही रोगी सिद्ध करने की चेष्टा करे, तो वैद्य की दवा से भला उसे क्या लाभ हो सकता है ? तभी तो आगे चलकर 'रामचरितमानस' में मानस-रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया——

सदगुर बैद बचन बिस्वास (७/१२१/६)

——सद्गुरु ही वैद्य हैं और उनके वचनों पर विश्वास होना साधक का पहला कर्तव्य है । पर यह विश्वास नारद का शंकरजी के प्रति नहीं था । अतएव भगवान् शंकर समझ गये कि मेरी चिकित्सा इनके लिए लाभदायक नहीं होगी, क्योंकि ये रोगी बनकर——रोग की भावना लेकर मेरे पास नहीं आये हैं । फिर भी उनके प्रति शंकरजी का अगाध स्नेह था, और जैसे कोई अपना प्रिय व्यक्ति भ्रमवश गलत दिशा में जा रहा हो, तो हम स्नेहवश उसे रोकने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भगवान् शंकर ने भी नारद को 'अतिप्रिय जानि' (१/१२६/६) अहंकार के रास्ते जाने से रोकने की चेष्टा की । पर भगवान् विष्णु नारदजी के अहंकार के सन्दर्भ में एक अनोखी पद्धति अपनाते हैं । वे एक लीला रचते हैं, जिसके माध्यम से वे नारद को बता देते हैं कि नारद, तुम केवल अहंकार से ग्रस्त नहीं हो, बल्कि तुम काम, क्रोध, लोभ आदि जिन दोषों को जीतने का दावा करते हो, वे सब के सब तुम्हारे जीवन में विद्यमान हैं । भगवान् विष्णु ने यह कार्य नारद के प्रति मित्रभाव से किया, और रुद्रगणों ने वही शत्रुभाव से । दर्पण में मित्र-भावना होती है, वह एकान्त में हमारे दोषों को बताता है, जिससे

हम दोषमुक्त हो सकें। पर शत्रु जब हमारे दोषों को बताता है, तो दोषों के निवारण के लिए नहीं, बल्कि उसमें विद्वेष की भावना होती है, वह हम पर व्यंग्य करने के लिए हमारे दोषों का वर्णन करता है। भगवान् विष्णु का अपनी उस लीला के पीछे भाव यह था कि नारद अपने अन्तर्मन को सही-सही देख सकें। उनमें अहंकार तो इसीलिए पैदा हुआ न कि वे अपने को काम, क्रोध, लोभ का विजेता समझ बैठे थे। जब नारद देखेंगे कि वे न तो काम के विजेता हैं, न क्रोध के, न ही लोभ के, तब उनका इन दोषों को जीतने का गर्व अपने आप नष्ट हो जायगा। यही भगवान् विष्णु का अभिप्राय था। वे अपनी योजना में पूरी तरह सफल हुए। नारद ने देख लिया कि काम, क्रोध, लोभ तीनों दोष उनके अन्तःकरण में पूरी मात्रा में विद्यमान हैं। वे जब यह देखते हैं कि मेरे अहंकार का भवन असत्य की, भ्रम की नींव पर खड़ा है, तब वे पूरी तरह से विनम्र हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें यह प्रतीति हो जाती है कि मन का ऐसा कोई विकार नहीं है, जो मेरे अन्तःकरण में छिपा हुआ न हो।

हम आपका ध्यान उस क्रम की ओर आकृष्ट करेंगे, जिससे नारद के मन में विकृतियों का जन्म होता है। सबसे पहले हुआ यह कि नारद ने काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया। इससे उनमें अहंकार का भाव पैदा हो गया। भगवान् विष्णु ने जब उन्हें देखा तो उन्हें लगा कि––

उर अंकुरेउ गरब तरु भारी (१/१२८/४)

––इनके मन में गर्व के भारी वृक्ष का अंकुर पैदा हो गया है। और यहाँ मानस-रोग के सन्दर्भ में कहा गया––

विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे (१/१२१/४)।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि नारदजी को किस विषय का जल प्राप्त हुआ, जिससे उनमें गर्व अंकुरित हुआ ? वे तो हिमालय की उपत्यका में बैठे हुए थे। काम हारकर लौट चुका था, अप्सराएँ भी जा चुकी थीं। अतएव ऊपर-ऊपर देखने से गर्व के अंकुरित होने का कोई कारण नहीं दिखायी देता। पर जब हम थोड़ी गहराई से विचार करते हैं, तो देखते हैं कि वे लोग जाते-जाते भी ऐसा विषय-जल बरसा गये, जिससे अहंकार अंकुरित हो जाता है। यह ध्यान रखिए कि अलग-अलग दोष अलग-अलग प्रकार के जल से अंकुरित होते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव अलग-अलग होता है। मनुष्य को रूप का विषय प्राप्त होने से उसके अन्तःकरण में काम अंकुरित हो सकता है। उसी प्रकार धन का विषय प्राप्त होने से लोभ। यदि उसकी इच्छा के विपरीत कुछ हुआ, तो वह क्रोध को अंकुरित कर देता है। इसी प्रकार अहंकार कब अंकुरित होता है ? उसके लिए तो इतने सूक्ष्म जल की वर्षा होती है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उसे रोक नहीं पाता। महामुनि नारद भी नहीं रोक पाये। क्यों ?

'विषय' का अर्थ आप समझते होंगे। उसका सामान्य अर्थ आप जानते हैं, वह है भोग की सामग्री। पर उसका सही अर्थ है वह सब, जो पंचेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होता है। जैसे, नेत्र का विषय है रूप, नासिका का विषय है गन्ध, जिह्वा का विषय है रस, त्वचा का है स्पर्श और कान का, शब्द। इनमें कुछ विषय तो स्थूल हैं और कुछ सूक्ष्म। स्थूल विषयों का त्याग तो व्यक्ति बहुधा कर देता है, पर सूक्ष्म विषयों में वह पकड़ा जाता है। नारद के जीवन में यही हुआ। वे अहंकार के द्वारा ग्रस्त हो गये। काकभुशुण्डि-

जी ने अहंकार की उपमा डमरुआ रोग से की है--'अहंकार अति दुखद डमरुआ' (७/१२०/३५)। डमरुआ गाँठ के रोग को कहते हैं, जिसे गठिया वात भी कहा जाता है, जिसके कारण शरीर के जोड़-जोड़ में पीड़ा बनी रहती है। प्रश्न उठता है कि नारद को ऐसा डमरुआ कैसे हो गया? नेत्र का विषय जो रूप है, वह उनके सामने काम के रूप में आया, पर वह उनके अन्तःकरण पर प्रभाव नहीं डाल सका। इसका श्रेय नारद ने अपने मन को दिया, पर वस्तुतः मन इस श्रेय का भागी नहीं था। जैसे कोई व्यक्ति सुस्वादु भोजन करके अपने को पूरी तरह तृप्त कर ले और उसके बाद कोई आकर उसे गुड़ दे और खाने के लिए कहे, तो स्वाभाविक ही वह उसे स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि एक तो उसका पेट भरा हुआ है और दूसरे, उसने गुड़ की अपेक्षा कितनी ही अधिक स्वादिष्ट चीजें खायी हैं। अब यदि वह व्यक्ति गर्व करने लगे कि देखो, मैंने स्वाद पर विजय पा ली है, मेरे सामने गुड़ लाया गया, पर मैंने उसकी ओर देखा भी नहीं, तो उसका यह दावा व्यर्थ है। यदि उसे भूख लगी होती और किसी ने उसे सुस्वादु भोजन परोसा होता, तब यदि वह उसका त्याग कर देता, तो त्याग का दावा कर सकता था। नारद के सन्दर्भ में भी ऐसा ही हुआ। उन्हें अप्सराओं के रूप ने आकृष्ट क्यों नहीं किया?--इसलिए कि वे बढ़िया भोजन करके उठे थे, वे समाधि में भगवान् के रूप-रस का छककर आस्वादन कर चुके थे। गोस्वामीजी लिखते हैं--

भयउ रमापतिपद अनुरागा। (१/१२४/३)

और उन्हें--

सहज बिमल मन लागि समाधी॥ (१/१२४/४)

भगवान् के अनुपम सौन्दर्य-रस का पान करके जब उन्होंने नेत्र खोले, तो अप्सराओं का सौन्दर्य उनके सामने आया। स्वाभाविक ही था कि भगवान् के कोटि-कन्दर्प-सौन्दर्य की तुलना में अप्सराओं का भौतिक सौन्दर्य फीका पड़ गया और उन्हें अप्सराओं के रूप में किसी आकर्षण की अनुभूति नहीं हुई। पर नारद ने इसका श्रेय भगवान् के रूप को न दे अपने त्याग को दिया और सोचने लगे कि मैं कितना वड़ा त्यागी हूँ, जो अप्सराओं के आत्म-समर्पण को मैंने स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार वे अपने को रूप-विषय के त्यागी मानने लगे। तपस्या में बैठे थे तो जिह्वा का स्वाद जीत ही लिया था। फिर, अप्सराएँ जो सुगन्ध बिखेर रही थीं, वह भगवान् के श्रीविग्रह से निकलने-वाली सुगन्ध की तुलना में अत्यन्त तुच्छ थी, इस प्रकार नारद गन्ध-विषय को भी जीत गये थे। यह सब इसीलिए कि अभी-अभी उन्होंने अपने हृदय में भगवान् का साक्षा-त्कार किया था और उनकी अरूप-रूप-माधुरी से छककर तृप्त हुए बैठे थे। पर नारद यह नहीं समझ पाये। जिस समय काम भयभीत हो उनके चरणों पर गिर पड़ा और उनसे क्षमायाचना कर वापस जाने लगा, उस समय जाते-जाते उसने ऐसे विषय-जल की वर्षा कर दी कि नारदजी को डमरुआ रोग लग गया।

नेत्र, जिह्वा और स्पर्श के विषय स्थूल होते हैं। यदि कोई नेत्र के विषय---रूप---का आनन्द लेना चाहता है, तो वह दिख जाता है। इसी प्रकार जिह्वा का विषय---भोज्य पदार्थ---भी स्थूल है। जब कोई जिह्वा के विषय से अपने को तृप्त करता है, तो वह भी दिख जाता है। उसी प्रकार जब कोई छूने का आनन्द लेना चाहता है, तो वह भी दूसरों

को दिखायी देता है। पर नासिका का विषय ऐसा है कि कोई गन्ध का भोग कर रहा है या नहीं यह दिखायी नहीं पड़ता। नासिका में आकार भोग का विषय सूक्ष्म हो गया। इसकी भी अपेक्षा कान का विषय अधिक सूक्ष्म होता है। मनुष्य अपने कान से अपनी प्रशंसा का जो सुख-भोग करता है, वह विषयों में सर्वाधिक सूक्ष्म है। दूसरे लोगों को इसका पता तक नहीं चलता। कान के द्वारा प्रशंसा का यह सुख-भोग ही अहंकार के डमरुआ का कारण है। काम जाते-जाते नारद की प्रशंसा करते हुए कहने लगा——महाराज, आप काम-क्रोध-लोभ के कितने बड़े विजेता हैं! आपके भीतर कोई विकार नहीं है। और बस, त्योंही अहंकार का रोग कान के माध्यम से नारद में प्रविष्ट हो गया। मन के ये भिन्न-भिन्न रोग अलग-अलग इन्द्रियों के माध्यम से मनुष्य के अन्तःकरण में पैठते हैं। अहंकार का मुख्य केन्द्र कान है। नारदजी की और सब इन्द्रियाँ तो तृप्त थीं, उनका बस कान ही भूखा था। उन्होंने उसके माध्यम से प्रशंसा का रस खूब छककर पिया।

कर्णेन्द्रिय के साथ यही तो कठिनाई है। अन्य सारी इन्द्रियों के विषय तो व्यक्ति छोड़ दे सकता है, पर कान से प्रशंसा का जो रस प्राप्त होता है, उसे वह नहीं छोड़ पाता। जो अन्य सब रस छोड़ देते हैं, उन्हें देखकर लोग कहते हैं कि देखिए, ये बड़े त्यागी हैं, स्वाद को छोड़ चुके हैं, नमक-शक्कर कुछ नहीं खाते; फिर द्रव्य को भी ये नहीं छूते; रूप-रस से भी विरक्त हो चुके हैं, सौन्दर्य का आकर्षण इनके मन में नहीं है। किन्तु ऐसे त्यागियों में विरले ही ऐसे होते हैं, जो कानों को खुला रख कम से कम यह सुनना न चाहें कि इन्होंने सब छोड़ दिया है। बस, यह

सुनने की व्यक्ति की भूख अन्य इन्द्रियों से हटकर कान में सिमट जाती है। तभी तो गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि ऐसा कौन है, जो लोभ को छोड़ सके? इस पर किसी ने उनसे कहा--महाराज, ऐसे कई लोग हैं, जिन्होंने लोभ छोड़ दिया है, आप ऐसा कैसे कहते हैं कि सबमें लोभ है? गोस्वामीजी बोले--भई देखो, उसने और सब बात का लोभ तो छोड़ दिया होगा, पर एक बात का लोभ नहीं छोड़ सका होगा, और वह है प्रशंसा का लोभ--

कोउ भल कहउ, देउ कछु,
असि वासना न उरते जाई। ११९।२

--यह सुनने का लोभ उसमें बना रहता है कि कोई मुझे अच्छा कहे अथवा मुझे कुछ दे। यह तो त्याग नहीं, बल्कि भोग है, प्रशंसा-रस का उपभोग है। और यह भोग का ऐसा सूक्ष्म विषय है कि दूसरे व्यक्ति को उसका भोक्तापन नहीं दिखायी देता। शेष अन्य विषयों में--नेत्र, रसना, नाक, त्वचा के विषयों में तो भोक्तापन प्रकट दिखायी देता है कि कोई सौन्दर्य निहार रहा है, मिठाई खा रहा है, इत्र सूँघ रहा है अथवा द्रव्य ग्रहण कर रहा है। पर कान के द्वारा विषय को ग्रहण करनेवाला व्यक्ति प्रत्यक्ष भोगी प्रतीत नहीं होता। इसीलिए 'रामचरितमानस' में गोस्वामीजी वर्णन करते हैं कि सारे साधक और भक्त प्रशंसा के कुपथ्य के प्रति सबसे अधिक सजग रहते हैं। चाहे आप भरतजी का चरित्र देखें या हनुमान्‌जी का, दोनों में यही सजगता दिखायी देगी।

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति प्रशंसा के इस कुपथ्य से बचने के लिए क्या करे? प्रशंसा तो दूसरे व्यक्त करते

हैं, उनको तो रोका नहीं जा सकता, और जब लोग प्रशंसा करते हैं तब वह कान के माध्यम से भीतर घुसेगी ही । ऐसी स्थिति में क्या किया जाय, जिससे अहंकार का डमरुआ न पैदा हो ? इसके लिए अलग-अलग पद्धतियों का वर्णन किया गया है । पर एक सबसे सार्थक पद्धति है——कान का बहरा हो जाना । जिसके कान बहरे हो जाते हैं, वह पूरे लाभ में रहता है । बहरे लोग एक तो सुन नहीं पाते; दूसरे, यदि सुनते भी हैं तो कुछ का कुछ सुन लेते हैं; फिर कभी-कभी कहनेवाला कहता कुछ है और वे अपने मन में जो बात होती है वही सुनते हैं । भगवान् के प्रेमी लोग बहरे हुआ करते हैं । नारायण स्वामी प्रेमी का लक्षण बताते हुए कहते हैं——

> सुनै न काहू की कही, कहै न अपनी बात ।
> नारायण वा रूप में मगन रहै दिन रात ।।

कहते हैं——'सुनै न काहू की कही' । इसका क्या अभिप्राय ? कान तो खुले हुए ही रहते हैं । नेत्रों में तो भला दरवाजा भी है, जिसे इच्छानुसार बन्द कर लिया जा सकता है, पर कान को बन्द करने का प्रकृति ने कोई सहज उपाय नहीं बनाया, जिससे व्यक्ति को सुनायी न दे । और प्रशंसा सुनने की सहज प्रतिक्रिया यह होती है कि अहंकार जीवन में चैतन्य हो उठता है । इसलिए भगवान् के प्रेमी प्रेम में बहरा बन जाना पसन्द करते हैं । वैसे और एक प्रकार के लोग भी बहरा बन जाते हैं । गोस्वामीजी 'रामचरित-मानस' में लिखते हैं——'प्रभुता बधिर न काहि' (७।७०ख) ——प्रभुता पाकर व्यक्ति बहरा बन जाता है । तो, संसारी व्यक्ति तो सत्ता पाकर दूसरों की बात नहीं सुनता, पर प्रेमी कैसे बहरे हो जाते हैं ?——वे होते हैं अपने प्रभु की

प्रभुता पाकर। अभिप्राय यह है कि जब साधारण पद प्राप्त करके लोग बहरे हो जाते हैं, तब जिसने ईश्वर का पद पा लिया, वह यदि बहरा हो जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात! उसे लगता है कि बस, अब तो अपने आप में डूबे रहने की ही आवश्यकता है, इसीलिए न तो वह किसी की सुनता है, न अपनी कहता है।

भरतजी चित्रकूट की ओर जा रहे हैं। जब तीर्थराज प्रयाग में रुके, तो वहाँ प्रयाग के सारे नागरिक––ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी मुक्त कण्ठ से उनके त्याग की प्रशंसा करने लगे। अब एक व्यक्ति की प्रशंसा सुन व्यक्ति को अहंकार आ जाता है, तब जहाँ लाखों लोग एक स्वर में प्रशंसा कर रहे हों वहाँ कितना अहंकार न आना चाहिए! गोस्वामीजी लिखते हैं––

> प्रमुदित तीरथराज निवासी।
> बैखानस बटु गृही उदासी॥
> कहहिं परस्पर मिलि दस पाँचा।
> भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा॥ २।२०५।१-२

––सब लोग मिलकर भरतजी के शील और प्रेम की बड़ाई करते हैं, कहते हैं कि आज तक भरत के समान सज्जन, शीलवान्, चरित्रवान् धर्मात्मा कोई नहीं हुआ।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा––जब भरतजी ने इतने लोगों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनी होगी तब उन्हें कैसा लगा होगा? गोस्वामीजी उत्तर में बोले––अपनी प्रशंसा सुनकर भरतजी को लगा कि लोग भगवान् राम के सुन्दर गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं––'सुनत राम गुन ग्राम सुहाए' (२।२०५।३)! यदि कान इस प्रकार बहरे बन जायँ, तब तो इससे अच्छी और कोई बात नहीं। संसार

में व्यक्ति से कहा जाय कुछ और वह कुछ दूसरा सुन ले, तो वह हँसी का पात्र बनता है, पर भगवत्प्रेम के राज्य में यदि किसी व्यक्ति की प्रशंसा की जाय और उसे उसमें भगवान् की प्रशंसा सुनायी दे, तब तो इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा कान बन जाने के पश्चात् उसमें विषय के प्रविष्ट होने की आशंका नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में प्रशंसा की वर्षा से अहंकार के अंकुरित होने की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि अब तो उसके कान ही बदल जाते हैं।

शंकरजी की प्रशंसा में कहा जाता है कि उनके कान निरन्तर भरे रहते हैं। उनके सामने किसी ने 'रावण' कह दिया तो समाधि में चले गये। किसी ने 'राजा' कह दिया तो आनन्द में डूब गये। किसी ने 'रात्रि' कह दिया तो उनके नेत्र छलछला आये और मुँद गये और वे ध्यान में डूब गये। पार्वतीजी को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन शब्दों में ऐसा कौनसा रस है कि उन्हें सुनकर ये इस प्रकार आनन्द में डूब जाते हैं? उन्होंने भगवान् शंकर से कहा––"महाराज, मैं आपसे एक प्रश्न पूछूँगी, पर आप समाधि में न चले जाइएगा; क्योंकि मैं देखती हूँ कि शब्द सुनते ही आप समाधिस्थ हो जाते हैं, और मेरा प्रश्न तो शब्दों के माध्यम से ही होगा। अतः विनती है कि आप ध्यान से मेरे शब्दों को सुन लीजिए और फिर उसके बाद समाधि में जाने की सोचिए।" भगवान् शंकर बोले–– "ठीक है, पूछो।"

"अच्छा, यह बताइए कि आप 'रावण', 'राजा', 'रात्रि' आदि शब्दों को सुनकर समाधि में क्यों चले जाते हैं?"

सुनकर शंकरजी दुःखी हुए। कहा––"पार्वती, तुमने

मेरे मन को नीचे उतारकर ऐसे शब्द सुनाये, जो मैंने पहले कभी नहीं सुने थे।"

"यह क्या!" पार्वतीजी आश्चर्य में भरकर बोलीं, "आपके सामने तो ये शब्द परसों भी कहे गये थे और कल भी, और आप हैं जो कहते हैं कि कभी सुने नहीं!"

"बात यह है, पार्वती", शंकरजी ने कहा, "जब किसी के मुँह से 'रा' अक्षर निकलता था तो यही समझता था कि 'रा' के बाद 'म' ही निकलेगा, और यह मान मैं राम-नाम की भावना में डूब जाता था, इसीलिए मैं नहीं जानता कि किन शब्दों का उच्चारण हुआ!"—

रकारादीनि नामानि श्रृण्वतो मम पार्वति।
मनः प्रसन्नतां याति रामनाम्नि च तल्लयः॥

इस प्रकार शंकरजी तो 'रा' सुनकर ही राम के ध्यान में डूबे जाते थे और भरतजी को अपनी प्रशंसा में भगवान् राम की प्रशंसा सुनायी पड़ती थी। फिर, भरतजी और एक कला का प्रयोग करते थे। नारद तो काम के द्वारा अपनी प्रशंसा सुन अहंकारग्रस्त हो गये, पर भरत की प्रशंसा स्वयं राम करते हैं, फिर भी उनके अन्तःकरण में अहंकार अंकुरित न हुआ। जब वे चित्रकूट की ओर जा रहे थे, तब संसार के लिए वे बहरे बन गये थे—लोग उनकी इतनी प्रशंसा करते, पर वे वह कुछ नहीं सुनना चाहते थे। और जो सुनते भी थे, उसे भी बदलकर सुनते थे। पर अब जब स्वयं भगवान् राम ही बोलने लगे, तब भरतजी उनके शब्दों को न सुनने की धृष्टता नहीं कर सकते थे। उन्होंने ध्यान से श्री राम की बातों को सुना, पर एक चतुराई के साथ। प्रभु ने भरत की ऐसी प्रशंसा शुरू कर दी, जैसी किसी ने नहीं की थी। वे बोले—

तीनि काल तिभुअन मत मोरें।
पुन्यसिलोक तात तर तोरें।। २।२६२।६

—"मेरे मत में (भूत, भविष्य और वर्तमान) तीनों कालों और (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल) तीनों लोकों के सब पुण्यात्मा पुरुष तुमसे नीचे हैं। मेरी तो यह मान्यता है, भरत, कि—

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई।
जाइ लोकु परलोकु नसाई।। २।२६२।७

—यदि किसी के मन में भी तुम्हारे प्रति कुटिलता का सन्देह हो, तो उसका यह लोक तो बिगड़ ही जाता है, परलोक भी नष्ट हो जाता है। इसलिए—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।
भरत भूमि रह राउरि राखी।। २।२६३।१

—हे भरत, मैं स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं, यह पृथ्वी तुम्हारे रखने के कारण रह रही है!"

यह कितनी जबरदस्त प्रशंसा थी! भरतजी ऐसी प्रशंसा प्रभु के मुख से सुनकर एक अनूठी कला का प्रयोग करते हैं। आप देखते हैं कि कई बार ऐसे लोग मिल जाते हैं, जो आग्रहपूर्वक भोजन कराने के अभ्यस्त होते हैं, वे पीछे ही पड़ जाते हैं कि भोजन कर लीजिए। मैंने एक सज्जन देखा, जिन्होंने इससे बचने का सुन्दर उपाय किया था। जब आग्रह करनेवाले व्यक्ति ने उनकी थाली में जबरदस्ती भोजन परोसा, तो उन्होंने थाली से भोजन उठाकर उसी के मुँह में ठूँस दिया, कहा—जब आप इतना आग्रह कर रहे हैं, तब आप भी तो इसका आनन्द लीजिए! यही बात भरतजी ने भी की। जब प्रभु ने

प्रशंसा का भोजन परोसा, तो भरतजी ने वह उठाकर उलटे प्रभु को ही खिला दिया। भगवान् श्री राम ने भरत की इतनी प्रशंसा करके उनसे पूछा, "भरत, मेरी सत्यवादिता पर तुम्हें सन्देह नहीं है न? तुम्हारी दृष्टि में मैं सत्य-वादी तो हूँ न?" भरत बोले, "नहीं, प्रभु, आपकी सत्य-वादिता पर मुझे कोई सन्देह नहीं है।"

"तब तुम्हारी प्रशंसा में मैंने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हें सत्य मानना चाहिए।"

"बात यह है, महाराज, सत्य भी तो सबका एक नहीं होता," भरतजी बोले, "हमारे लिए सत्य वह है, जो हमारी दृष्टि में दिखायी देता है और आपके लिए सत्य वह है, जो आपको दिखता है। आप जो यह कहते हैं कि 'भरत, तुममें दोष नहीं है', यह सुनकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि मैंने पहले ही पता लगा लिया है कि आपकी आँखों में दोष देखने की शक्ति है ही नहीं। इसीलिए आपको भरत में कोई दोष नहीं दिखायी दे रहा है। आप बिलकुल सत्यवादी हैं, आपको जैसा दिखायी दे रहा है वैसा आप कह रहे हैं—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी।
नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए।
सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने।
सुनि गुन साधु समाज बखाने॥ २।२९८।२-४

—जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलंकी, नीच, शील-रहित, नास्तिक और निडर हैं, उन्हें भी आपने शरण में सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करने पर ही अपना

लिया। उन शरणागतों के दोषों को देखकर भी आप कभी हृदय में नहीं लाये और उनके गुणों को सुनकर साधुओं के समाज में उनका बखान किया। इसीलिए, प्रभु, आप मुझमें भी दोष नहीं देख पाये। पर मुझे तो अपने दोष दिखायी दे रहे हैं, इसलिए अपनी जगह मैं भी सत्यवादी हूँ।"

"देखो, भरत ! इस तर्क-वितर्क से तो पार पड़ने-वाला न ीं। ठीक है, तुम कहते हो कि मुझमें दोष देखने की शक्ति नहीं है। पर यह तो मानोगे कि मुझमें गुण देखने की शक्ति है ? यदि तुम इस बात को स्वीकार करते हो, तब सुन लो, भरत, तुममें ये गुण हैं।"——प्रभु बोले।

भरतजी ने उत्तर में कहा, "महाराज, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आप गुण देखना बहुत अच्छा जानते हैं। पर आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिए। यदि तोता बहुत बढ़िया पाठ पढ़ने लगे और बन्दर बढ़िया नाचने लगे, तो इसमें तोते और बन्दर की विशेषता है अथवा पढ़ाने और नचाने वाले की ?"

"अब, भई, इसमें तो पढ़ाने और नचाने वाले ही की विशेषता है।"——प्रभु बोले।

"तो महाराज, बस यही समझ लीजिए कि भरत तोता और बन्दर है। पढ़ाने और नचाने वाले तो आप ही हैं !——

पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना।
गुन गति नट पाठक आधीना॥ २।२९८।८

यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर॥२।२९९

——आप इस प्रकार अपने सेवकों की बिगड़ी बात

सुधार लेते हैं और सम्मान देकर उन्हें साधुओं का सिरमौर बना देते हैं। आप कृपालु के सिवा अपनी बिरदावली का और कौन जबरदस्ती पालन करेगा ? आपके समान और कौन ऐसा उदार होगा ? आपने यदि मुझमें गुण देख मेरी प्रशंसा की है, तो उन गुणों का श्रेय आपको ही है और आप ही उस प्रशंसा के सच्चे अधिकारी हैं। इसलिए प्रभो, यह प्रशंसा आप ही ले लीजिए।"

और इस प्रकार भरतजी ने भगवान् के द्वारा की गयी उनकी प्रशंसा को भगवान् को ही लौटा दिया।

एक बार किसी भक्त से भगवान् ने पूछ लिया, "तुम लोग प्रशंसा स्वीकार क्यों नहीं करते हो ?" भक्त ने कहा, "अहंकार का डमरुआ जो उत्पन्न हो जाता है !" भगवान्, बोले, "तो तुम लोग उलटकर मेरी जो प्रशंसा करते हो, क्या इसलिए कि वह रोग मुझमें पैदा हो जाय ?" भक्त बोला, "महाराज, अब यह तो अपनी-अपनी पाचनशक्ति है। आदिकाल से लेकर अब्र तक इतने ऋषि-मुनि आपकी प्रशंसा करते रहे, पर आपको अहंकार का डमरुआ हुआ नहीं। आपमें पचाने की अद्‌भुत क्षमता है। आपकी जितनी प्रशंसा की जाय, आप सब पचा ले सकते हैं। जीव की पाचनशक्ति बड़ी कमजोर है। थोड़ी भी प्रशंसा पचा ले तो उसके लिए बहुत है।"

जीव के साथ यही विकट समस्या है। वह एक ओर प्रशंसा पचा नहीं सकता और दूसरी ओर मनमाने प्रशंसा का भोजन करता रहता है। दूसरा भोजन कितना भी स्वादिष्ट हो, यदि एक बार पेट भर जाय तो मन उस ओर नहीं जायगा। पर प्रशंसा का भोजन इतना प्यारा

लगता है कि चाहे वह दिन-रात चलता रहे, पर व्यक्ति को ऐसा नहीं लगता कि अब भोजन न करें। प्रशंसा की प्रकृति ऐसी है कि व्यक्ति सुनकर कभी नहीं अघाता। थोड़ी बहुत प्रशंसा को कोई एक बार पचा भी ले, पर व्यक्ति उसकी कोई सीमा बाँध नहीं पाता। फल यह होता है कि उसे अजीर्ण हो जाता है। एकमात्र भगवान् ही हैं, जिनमें प्रशंसा से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती, अहंकार नहीं होता।

फिर एक दूसरी दृष्टि से विचार करें तो भगवान् की प्रशंसा ही नहीं हो सकती, प्रशंसा तो व्यक्ति की ही हो सकती है। यदि हम थोड़ी गहराई से विचार करें तो देखेंगे कि हम जिसे भगवान् की प्रशंसा कहते हैं, वह तो वस्तुतः उनकी निन्दा है। जैसे हम उनकी प्रशंसा में कहते हैं—आपके नेत्र कमल की तरह हैं, कन्धे सिंह की तरह। अब भगवान् के श्रीविग्रह की तुलना जड़ वस्तुओं से, पशुओं से करना उनकी प्रशंसा है या निन्दा? यह तो उनकी उदारता है कि वे हम लोगों को परिणाम निन्दा का न दे, प्रशंसा और स्तुति का देते हैं। इतना होते हुए भी भक्त भगवान् की प्रशंसा करता है और यह मानता है कि यदि भगवान् जीव की प्रशंसा करें तो उसे भगवान् को लौटा देने में ही उसका कल्याण है।

भरतजी ने यही किया। हनुमान्जी ने भी यही किया। हनुमान् लंका में, प्रवृत्ति के दुर्ग में विषयों पर विजय प्राप्त करके आये। उनके आते ही भगवान् राम उनकी प्रशंसा करने लगे। हनुमान्जी यह सुनते ही जोर जोर से चिल्लाने लगे—'त्राहि त्राहि भगवंत' (५।३२) —

रक्षा कीजिए ! रक्षा कीजिए ! भगवान् ने पूछ दिया—
"लंका में तो तुमने एक वार भी 'रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए' कहकर नहीं पुकारा, अब यहाँ क्या हो गया ?"
हनुमान्‌जी बोले—"प्रभु, वहाँ जो विषय थे, उन्हें जीतने में कठिनाई नहीं थी, इसलिए मैंने आपको कष्ट देने की आवश्यकता नहीं समझी। लेकिन यहाँ जब आप स्वयं मेरी इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, तो मुझे भय लगता है कि कहीं मेरी भी दशा नारदजी के समान न हो जाय। मनुष्य जब दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनकर इतना अहंकारी हो जाता है, तब यहाँ तो साक्षात् भगवान ही मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। इसीलिए डरकर मैं 'त्राहि त्राहि' कह रहा हूँ !"

"इतना क्यों डरते हो ? थोड़ी प्रशंसा सुनने में क्या भय है ? तुम तो पचा ही लोगे।"—प्रभु बोले।

"नहीं, महाराज ! नहीं पचा पाऊँगा, क्योंकि मुझे भूख नहीं है। भूख के बिना भोजन करने से अनपच हो जायगा !"

"क्यों, तुम तो बड़े भूखे हो, तुम्हारी भूख तो जन्म-जात है !" —प्रभु ने कटाक्ष किया।

"महाराज, मैं भूखा अवश्य था, लेकिन माँ जानकी के पास जा अपनी भूख मिटा आया हूँ। मैंने उनसे कहा भी था—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुंदर फल रूखा ।। ५।१६।७

—हे माता, सुनो, सुन्दर फलवाले वृक्षों को देखकर मुझे बड़ी ही भूख लग आयी है। पर उनकी कृपा से मुझे ऐसी तृप्ति प्राप्त हो गयी है कि अब प्रशंसा की भी भूख

शेष नहीं है। आप यह प्रशंसा औरों के लिए रखिए।"

"पर, हनुमान् !"—प्रभु बोले, "तुमने इतने श्रेष्ठ कार्य किये हैं कि मुझे प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।"

हनुमान्‌जी ने कहा, "महाराज, आपने तो मात्र एक बात कहकर ही मेरी प्रशंसा की है कि तुमने लंका कैसे जलायी। जब आपको प्रशंसा करनी ही है तब इन बातों के लिए भी क्यों नहीं करते कि मैंने सागर को पार कर लिया, निशाचरों का वध कर डाला, और रावण की वाटिका उजाड़ डाली ?"—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि बिपिन उजारा ।। ५।३२।८

भगवान् राम बोले—"अच्छा, तुमने इतने बड़े-बड़े कार्य किये ?"

"मैंने नहीं किया, महाराज !" —हनुमान्‌जी का उत्तर था, "वह सब तो आपके ही प्रताप से हुआ, उसमें मेरी कोई बड़ाई नहीं थी—

सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।। ५।३२।९

अतएव आप अपने प्रताप की चाहे जितनी प्रशंसा कर लें, पर व्यर्थ मेरी प्रशंसा न करें। मुझे डर है कि आपकी प्रशंसा स्वीकार कर कहीं मैं भी नारदजी के समान भ्रमित हो उसे यथार्थ न मान बैठूँ, इसलिए आप इस प्रशंसा से मेरी रक्षा कीजिए !"

और हनुमान्‌जी बच जाते हैं। पर नारदजी काम की प्रशंसा सुन सोचने लगे कि काम झूठा थोड़े ही कह रहा है; 'यदि प्रशंसा वह सही बात की कर रहा है तो उसे स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ? जब काम ने उनसे

कहा कि आप काम-क्रोध-लोभ के विजेता हैं, तो नारद को लगा कि यह प्रशंसा कोई स्तुति नहीं है, यह तो यथार्थ का वर्णन है। बस, ज्योंही उन्होंने यथार्थ के वर्णन को कान के माध्यम से ग्रहण किया कि प्रशंसारूपी विषय का कुपथ्य पा उनके अन्तःकरण में अहंकार अंकुरित हो गया। (क्रमशः)

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) मनः कृतं कृतं मन्ये

एक बार गौतम बुद्ध का कोसल जनपद स्थित केसपुत्त निगम में आगमन हुआ। रात्रि को प्रवचन के उपरान्त एक शिष्य ने उनसे प्रश्न किया, "भन्ते! केसपुत्त में जब भी कोई श्रमण आता है और अपने मत का प्रचार कर दूसरे के मत का खण्डन करता है, तब हम संशय में पड़ जाते हैं कि किसका कथन सही है और किसका गलत?"

तथागत ने कहा, "कालामो! तुम्हारे चित्त का इस प्रकार विचलित होना स्वाभाविक है। वस्तुतः संशय ही ज्ञान का जनक है, इस कारण किसी बात को तुम इसलिए सत्य मत मानो कि यह तुम्हारी श्रुति है। तुम इसलिए भी सत्य मत मानो कि तुम उसे सदा से ही सत्य मानते आ रहे हो। ऐसा तो है ही कहकर भी किसी बात को सत्य मत मानो। 'पिटक' (धर्मशास्त्र) में अमुक बात का अनुमोदन किया गया है, अथवा वह तर्कसंगत या न्यायपूर्ण है, इसलिए भी सत्य मत मानो। मत प्रदर्शित करनेवाले व्यक्ति का रूप एवं व्यक्तित्व आकर्षक है, अन्यथा वह श्रद्धावान् है या वह आचार्य है इसलिए उसका कथन सत्य होगा, इस प्रकार की भ्रान्ति में पड़ना श्रेयस्कर नहीं, बल्कि जब तुम्हारा विवेक कहे कि यह सत्य है और यह असत्य, तभी उसे सत्यासत्य मानो।"

(२) पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति

एक बार कबीरदासजी ने एक किसान से प्रश्न किया,

"क्या तुम भगवद्भजन के लिए कभी समय निकाल पाते हो ?" किसान ने उत्तर दिया, "नहीं, अभी मेरे बच्चे छोटे हैं, जब जवान होंगे, तब अवश्य भजन-पूजन करूँगा ।" कुछ वर्ष बाद कबीरदासजी ने उससे पुनः प्रश्न किया, "अब तो बच्चे जवान हो गये होंगे, इसलिए पूजा-पाठ के लिए समय मिलता ही होगा ?" किसान ने कहा, "बच्चों की शादी करने का विचार है । उसके बाद ही पूजा-पाठ कर सकूँगा ।" कुछ वर्ष बाद ही वही प्रश्न दोहराने पर किसान ने जवाब दिया, "पोतों का मुख देखने की मेरी इच्छा है ।" कबीरदासजी ने हिम्मत न हारी और कुछ वर्ष बाद वही प्रश्न पूछने पर किसान ने निराशा-भरे स्वर में कहा, "पोते बड़े ऊधमी हैं, बहुत तंग करते हैं । दिन भर उनकी तरफ ध्यान देना पड़ता है, इस कारण समय ही नहीं मिलता ।"

अगली बार कई वर्षों के बाद जब कबीरदासजी किसान के घर गये, तो पता चला कि उसका देहावसान हो गया है । जब उन्होंने अन्तर्ध्यान लगाया, तो उन्हें दिखायी दिया कि किसान के पास एक गाय थी, जो उसे बड़ी प्यारी थी । किसान ने उसके बछड़े के रूप में जन्म लिया था । बड़ा होने पर उसे हल में खूब जोता गया और बाद में जब वह बूढ़ा हो गया, तो कोल्हू में जोता गया । बाद में जब वह किसी काम का न रहा तो किसान के लड़कों ने उसे एक कसाई को बेच दिया । कसाई ने उसके टुकड़े करके उसका मांस लोगों को बेचकर तथा चमड़ा नगाड़े बनानेवालों को बेचकर पैसा कमाया । नगाड़े बजानेवाले अब उसे ठोंक-ठोंककर बजाया करते । किसान की यह हालत देख कबीरदासजी के मुँह से निम्न

शब्द निकले—

> बैल बने हल में जुते, ले गाड़ी में दीन ।
> तेली के कोल्हू रहे, पुनि घेर कसाई लीन ।।
> मांस कटा बोटी बिकी, चमड़न मढ़ी नक्कार ।
> कुछ कुकरम बाकी रहे, तिस पर पड़ती मार ।।

(३) सोइ सेवक, जो सद्गुरु सेवे

एक बार कुछ रागियों (भाटों) ने सिक्ख गुरु साहिब अर्जुनदेव से प्रार्थना की कि उन्हें कुछ रुपये-पैसों की आवश्यकता है, अतः यदि उन्हें प्रति सिक्ख के हिसाब से चन्दा मिले, तो मेहरबानी होगी। गुरुदेव ने आश्वासन दिया कि वे कुछ दिनों बाद देंगे। यह सुन वे लोग खुश हो गये कि ज्यादा संख्या में उनके पास जाने पर खासी रकम जमा हो जाएगी। कुछ दिनों बाद वे अर्जुनदेव के पास गये और उन्होंने चन्दा देने की याद दिलायी। गुरुदेव ने उन्हें पुनः बाद में आने को कहा। बाद में कुछ दिनों के बाद जाने पर गुरुदेव ने उनके हाथ में साढ़े चार टके रख दिये। यह देख भाट बोले, "क्या इतना ही चन्दा ?" "हाँ," अर्जुनदेव ने उत्तर दिया, "बात यह है कि तुमने सिक्खों-जितना चन्दा देने की प्रार्थना की थी और मैंने उतने ही टके दिये हैं, जितनी सिक्खों की संख्या है।" यह सुन वे भाट असमंजस में पड़ गये। तब गुरु साहिब ने कहा, "पहले सिक्ख गुरु नानक साहिब हैं, दूसरे अंगददेव, तीसरे अमरदासजी और चौथे रामदासजी हैं। लोग मुझे भी सिक्ख समझते हैं, लेकिन मैं पूरा सिक्ख नहीं, आधा हूँ। इस कारण तुम्हें सिक्खों-जितने साढ़े चार टके दिये हैं।"

उन्होंने आगे कहा, "तुम जो समझते हो कि सिक्ख असंख्य हैं, वह तुम्हारी भूल है। वास्तव में सिक्खी होना उतना आसान नहीं, वह तो तलवार की धार की तरह है। मनुष्य तो जीते-जी मरता है, लेकिन सिक्खी नहीं। वही मनुष्य सिक्ख है, जो सद्‌गुरु का शिष्य बनकर उसके उपदेशों को ग्रहण करता है और तदनुसार अपना आचरण रखता है। सच्चा शिष्य वही है, जो अपने सद्‌गुरु की निःस्वार्थ भाव से पूर्ण निष्ठा के साथ सेवा करे और दोनों के बीच का आवरण हटाकर परमात्मा से मिलने की चेष्टा करे। यदि वह जीते-जी परमात्मा से नहीं मिल पाता, तो वह सद्‌गुरु का सच्चा शिष्य नहीं और न ही सिक्ख कहलाने के योग्य है!"

(४) जासु सत्यता तें जड़ माया

समर्थ रामदासजी का प्रतिदिन सन्ध्या समय शिष्यों के साथ अध्यात्म-चर्चा का नियम था, जिसमें शिष्यगण उनसे गहन प्रश्न पूछते और वे उनका समाधानपूर्वक उत्तर देते थे।

एक बार एक शिष्य ने उनसे प्रश्न किया, "माया सत्य है अथवा मिथ्या?" रामदासजी ने उत्तर दिया, "माया सत्य है।" वासुदेव पण्डित नामक एक शिष्य इस उत्तर से सन्तुष्ट न हुआ और उसने कहा कि "माया मिथ्या है।" इस पर समर्थ ने कहा कि इसे वे बाद में कभी सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

कुछ दिनों बाद रामदासजी ने एक मदारी को बुलाया और उससे साँप का खेल दिखाने के लिए कहा। जब उसने एक कपड़े का साँप बनाया, तो समर्थ ने वासुदेव पण्डित से पूछा, "साँप सत्य है या मिथ्या?" "मिथ्या,"

वासुदेव ने उत्तर दिया। तब समर्थ ने उसे हाथ में पकड़ने के लिए कहा। जब वासुदेव ने आगे हाथ बढ़ाया, तो उस कपड़े के साँप ने हाथ को लपेटना शुरू किया। जब हाथ कसा जाने लगा, तो उसे असह्य पीड़ा होने लगी और वह मारे दर्द के चिल्लाने लगा। तब समर्थ ने मदारी से उस सर्प को वापस लेने के लिए कहा। मदारी ने जब वासुदेव के हाथ से सर्परूपी कपड़े को वापस लिया, तो उन्होंने वासुदेव से प्रश्न किया, "सर्प सत्य है या मिथ्या ?" उसने उत्तर दिया, "सर्प मिथ्या है, लेकिन मुझे प्राणान्तक वेदना हो रही थी, यह भी उतना ही सत्य है।" समर्थ ने पुनः प्रश्न किया, "जब सर्प मिथ्या था, तो तुमको वेदना कैसे हो रही थी ?" वासुदेव ने उत्तर दिया, "मिथ्या होते हुए भी वह सर्प-सरीखा हो गया था। यदि मदारी ने उसे छुड़ा न लिया होता, तो शायद मैं जीवित न रहता।" "इसका यह अर्थ हुआ कि सर्प मिथ्या न रहा"—समर्थ के यह कहने पर वासुदेव ने कोई जवाब नहीं दिया। तब रामदासजी ने कहा, "कुछ दिनों पूर्व तुमने 'माया मिथ्या है' कहा था न ?" उसके "हाँ" कहने पर सन्त ने कहा, "जिस प्रकार कपड़े का सर्प मिथ्या है, लेकिन मदारी के कारण वह सत्य हो गया था, उसी प्रकार माया मिथ्या प्रतीत होती है, लेकिन ईश्वर के योग से वह सत्य हो जाती है।"

(५) सन्तन धारा निर्मल बहे

आद्य शंकराचार्य वेदान्तपारंगत स्वामी श्री गोविन्द भगवत्पाद से मिलने बद्रीनाथ की ओर रवाना हुए। मार्ग में वे जब थक गये, तो रास्ते में एक तालाब के किनारे बैठकर विश्राम करने लगे। अचानक उन्होंने देखा कि

समीप ही कुछ मेंढक आपस में खेल रहे हैं। वे उनका खेल देखते हुए अपनी थकावट मिटाने लगे। ग्रीष्म ऋतु की भरी दोपहरी थी। भीषण ऊष्मा से जब आद्य-गुरु संत्रस्त हो गये, तो मेंढकों की क्या कथा? तालाब का पानी तक गरम हो गया और मेंढकों का वहाँ रहना असह्य हो गया।

इतने में एक मेंढक की जोर-जोर से 'टर्र-टर्र' की ध्वनि सुनायी पड़ी। बात यह थी कि मेंढक का वह नन्हा बच्चा भीषण आतप को सहन न कर पानी से बाहर निकलकर आर्त स्वर में सहायता के लिए चिल्ला रहा था। थोड़ी ही देर में वहाँ एक भुजंग आया और उसने मेंढक के बच्चे पर अपना फन पसार दिया। शंकरा-चार्य ने देखा तो चकित रह गये। आश्चर्य की बात थी कि भक्षक रक्षक बन गया था। आद्यगुरु वहाँ से उठे और स्वामीजी से मिलने गये। उनसे उन्होंने वह अनोखी घटना कह सुनायी और आश्चर्य व्यक्त किया। तब स्वामी-जी ने कहा, "यह स्थल पहले श्रृंगी ऋषि का पावन आश्रम था, जहाँ सभी जीव बैर-भाव भूलकर आपस में भाई-चारे का बर्ताव करते थे। यह घटना भी उसी की पुनरा-वृत्ति है।"

आचार्य ने ये शब्द सुने और उनके अन्तर्मन में निम्न विचार कौंध उठे--"जब भक्षक और भक्ष्य में ऐक्य सम्भव है, तो मानव-मानवमें क्यों नहीं?" उनके मन-श्चक्षुओं के सामने आसेतुहिमाचल से कन्याकुमारी तक का विशाल क्षेत्र उपस्थित हो गया। उन्होंने सोचा कि यदि दक्षिण के लोग हिमगिरि का उत्तर के लोगों के समान ही श्रद्धा और आदर भाव से नतमस्तक

हो गौरव करें और उत्तर के लोगों में दक्षिण के लोगों के समान रामेश्वरम् के प्रति श्रद्धाभाव जागृत हो, तो देश में एकता सम्भव है। और उन्होंने दृढ़संकल्प हो, समूचे भारत का पैदल भ्रमण किया तथा उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथपुरी तथा पश्चिम में द्वारिकानगरी के समीप मठों की स्थापना की। इससे जन-जन में ऐक्य और समताभाव उत्पन्न होने सम्बन्धी उनका स्वप्न साकार हो उठा। आज भी इन चारों धामों के दर्शनार्थ आये लोगों को इस बात का स्मरण नहीं रहता कि वे उत्तर के हैं या दक्षिण के, बल्कि वे स्वयं को 'देशवासी' कहना ही पसन्द करते हैं।

○

चोर घर में घुसकर अँधेरे में वस्तुओं को टटोलता है। मेज पर हाथ रखा, 'यह नहीं' कहकर छोड़ दिया। फिर शायद कुर्सी पर हाथ रखा, उसे भी 'यह नहीं' कहकर छोड़ दिया। इस तरह 'यह नहीं' 'यह नहीं' ('नेति' 'नेति') करते हुए एक के बाद एक वस्तुओं की छान- बीन करते-करते अन्त में उसका हाथ तिजोरी-वाली पेटी पर पड़ जाता है। तब वह 'यह है!' ('इति') कह उठता है, और वहीं उसकी खोज समाप्त हो जाती है। ब्रह्म का अनुसन्धान भी इसी प्रकार है।

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—
नित्यगोपाल गोस्वामी

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके जनवरी १९८० अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। इस लेखमाला के अनुवादक हैं रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी श्रीकरानन्द। —स०)

कृष्णकमल गोस्वामी (१८१०-१८८८), जो 'बड़े गोस्वामी' के नाम से अधिक परिचित थे, ने अपने अनगिनत वैष्णव भजन और अनोखे सरस नाटकों द्वारा, जिनमें 'राइ उन्मादिनी' सबसे अधिक लोकप्रिय था, ढाका में वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। वे वैद्य जाति के थे तथा उनके पूर्वज श्री गौरांग महाप्रभु के लीलासहचर श्री नित्यानन्द के शिष्य थे।

उनके सुरूपवान् पुत्र नित्यगोपाल में बचपन से आध्यात्मिक झुकाव दिखायी देने लगा था तथा उसने जीवन के काफी प्रारम्भ में ही अच्छे विद्वान् के रूप में ख्याति भी अर्जित कर ली थी। कोमल स्वभाव का तथा धार्मिक रुचि होने से नित्यगोपाल आध्यात्मिक भूख से व्याकुल हो उसके समाधान के लिए इधर-उधर भटकने लगा। इस खोज ने पहले उसे ब्राह्मसमाज के पास पहुँचाया, जो उसको सन्तुष्ट करने में पूरी तरह असफल रहा। बल्कि वह और

उद्विग्न हो उठा। एक मित्र के सुझाव पर उसने नास्तिकों के एक दल में प्रवेश ले लिया, पर भगवान् में गहरी आस्था होने के कारण वह उन लोगों के प्रतिकूल सान्निध्य को अधिक दिन नहीं झेल सका। तब थियोसाफिकल सोसायटी का सदस्य बन गया। उसके तब के अनुभव इन शब्दों में उसके द्वारा व्यक्त किये गये हैं––"मैं यह नहीं कह सकता कि इस संस्था के साथ जुड़े रहने से मुझे कोई लाभ नहीं हुआ।" तब भी उसने सांख्य और योगशास्त्र पढ़ना और उन पर विचार करना प्रारम्भ रखा। इसी समय उसकी भेंट ढाका ब्राह्मसमाज के तत्कालीन प्रमुख विजयकृष्ण गोस्वामी से हुई। आध्यात्मिक भूख तो थी ही, साथ ही परिवार के आर्थिक कष्टों ने भी नित्यगोपाल को काफी चिन्तित कर रखा था। विजयकृष्ण गोस्वामी से उसने अपनी मानसिक व्यथा के सम्बन्ध में लम्बी चर्चाएँ कीं, और ऐसी ही एक चर्चा के दौरान उसने दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के परमहंस के बारे में पहली बार सुना।

निष्ठावान् ब्राह्मण क्षुदिराम के पुत्र श्रीरामकृष्ण का जन्म तथा लालन-पालन बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर ग्राम में हुआ था। अद्भुत स्मरणशक्ति, तीव्र मेधा विलक्षण प्रतिभासम्पन्न श्रीरामकृष्ण ने परम्परागत शिक्षा लेने से इन्कार कर दिया। इसके बजाय, बचपन में प्राप्त दैवी अनुभवों ने उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान पाने के लिए प्रेरित किया। युवावस्था में वे कलकत्ता आये, और फिर दक्षिणेश्वर मन्दिर में, जहाँ उनकी आत्मिक भूख ने उन्हें गहरी साधना में डुबाकर ईश्वर-दर्शन तक पहुँचा दिया। कालान्तर में ये दर्शन उन्हें सिर्फ भावावस्था में ही नहीं, कभी कभी तो खुली आँखों

से सामान्य सहजावस्था में भी प्राप्त होते। यद्यपि लगभग सब समय वे ईश्वरीय भाव में डूबे रहते, फिर भी ईश्वर को विभिन्न भावों और रूपों में देखने की उनकी इच्छा हुई। तब उन्होंने विशेष इच्छाशक्ति, लगन एवं निष्ठा के साथ हिन्दू धर्म के विभिन्न मार्गों की साधना की। फिर वे इस्लाम की ओर मुड़े और तत्पश्चात् ईसाई धर्म की ओर। प्रत्येक साधना में उन्हें दिव्य अनुभव हुए तथा चरम आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हुई। श्रीरामकृष्ण के रूप में इस अद्वितीय प्रतिभा ने कुछ वर्षों में ही संसार के सारे आध्यात्मिक अनुभवों के सरगम को पार करके दिखा दिया। अपने आध्यात्मिक साधना-काल में यह साधक ऐसे रहता मानो केवल वह है और ईश्वर है, पर अपनी सत्य की खोज सफलतापूर्वक पूरी कर वह इस अनुभूति के साथ संसार में लौट आया कि यह संसार उसी अनन्त का बाहरी प्रांगण है।

बारह वर्षों की समृद्ध आध्यात्मिक अनुभूतियों ने उन्हें एक अत्युच्च आध्यात्मिक स्थिति —'भावमुख अवस्था'—में पहुँचा दिया। इस अवस्था में पहुँचने पर उन्हें धीरे धीरे ऐसा भान होने लगा मानो उनके द्वारा ईश्वर का कोई महत् उद्देश्य पूरा होने का है और तब उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया। भारत के पुनर्जागरण के लिए, मानवता के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए तथा विश्व के विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय की स्थापना के लिए वे एक आध्यात्मिक लहर उठा देना चाहते थे। अपनी दिनचर्या और उपदेशों के माध्यम से श्रीरामकृष्ण विज्ञान और हेतुवाद द्वारा प्रभावित संशयी लोगों के समक्ष मनुष्य का दिव्य स्वरूप और जगत् की विविधता

के भीतर अवस्थित आधारभूत एकता को दिखा गये। बार-बार उन्होंने दिखलाया कि यद्यपि मार्ग अलग-अलग हैं तथापि आध्यात्मिक लक्ष्य एक है, तथा परम तत्त्व सर्वातीत भी है और सर्वव्यापी भी, एवं उसके अनेक पहलू और अभिव्यक्तियाँ हैं। वे सब स्त्री-पुरुषों को भगवान् की जीती-जागती मूर्ति के रूप में देखते थे।

विजयकृष्ण गोस्वामी द्वारा बतलायी परमहंस रामकृष्ण की गाथा ने नित्यगोपाल को, जो उस समय ढाका (वर्तमान में बँगला देश की राजधानी) के जगन्नाथ कालेज में व्याख्याता थे, मोहित कर दिया। उनके भीतर दक्षिणेश्वर के परमहंस के दर्शन की इच्छा जाग उठी, जो समय के साथ अधिक बलवती हो उठी। पहला सुयोग पाते ही वे सन्त के दर्शन के लिए कलकत्ते के समीप स्थित दक्षिणेश्वर जा पहुँचे। यह २६ नवम्बर १८८३ के कुछ महीने बाद की घटना होगी, जब श्रीरामकृष्ण ने मणि मल्लिक के यहाँ उत्सव में भाग लिया था। इसके कुछ बाद ही विजयकृष्ण गोस्वामी ने ढाका में ब्राह्मसमाज का कार्यभार सँभाला था। इन्हीं दिनों नित्यगोपाल विजयकृष्ण के निकट सम्पर्क में आये थे।[1]

सारी सम्भावनाओं से ऐसा लगता है कि सन् १८८४ के मध्य में नित्यगोपाल की श्रीरामकृष्ण से

१. आकाशगंगा, गया के नानक पन्थ के सन्त द्वारा दीक्षित होने के बाद कुछ समय साधना में बिताकर विजयकृष्ण श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए २६ सितम्बर, १८८४ को ब्राह्मसमाज के मन्दिर में गये थे। विजयकृष्ण में होते हुए गहरे परिवर्तन को देख साधारण ब्राह्मसमाज के अधिकारियों ने उन्हें श्रीरामकृष्ण के प्रभाव से दूर रखने की दृष्टि से ढाका भेज दिया।

भेंट हुई थी। श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट के सम्बन्ध में जो सर्वाधिक प्रसिद्ध जनश्रुति है, उसके अनुसार नित्यगोपाल के पहुँचने के समय श्रीरामकृष्ण दोपहर का भोजन कर रहे थे। उसे देख वे इतने प्रसन्न हो उठे कि फिर भोजन करने में उनकी कोई रुचि नहीं रही और वे उसे अधूरा छोड़कर उठ गये।[२] पर नित्यगोपाल ने बाद में स्वयं बतलाया था[३] कि पहली बार जब वे श्रीरामकृष्ण से मिले, उस समय वे दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में तखत पर लेटे हुए थे। श्रीरामकृष्ण दोपहर के भोजनोपरान्त विश्राम कर रहे थे। मानव के अन्त:करण को पढ़ लेने में कुशल श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त ही इस नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया। उससे सन्तुष्ट हो उन्होंने उसे धीरे-धीरे चरण दबाने के लिए कहा। इस अहैतुक कृपा को प्राप्त कर भावुक नित्यगोपाल इतना गद्‌गद हो उठा कि नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। श्रीरामकृष्ण ने भगवान् की भक्ति सम्बन्धी और अपने दुर्लभ अनुभवों की बातों में मानो अपना हृदय ही उड़ेल दिया। बातचीत के दौरान वे कह उठे, "बिना गुरु की सहायता के कुछ नहीं होता। विजय को अपने गुरु मिल गये, इसलिए अब उसे आत्मिक शान्ति प्राप्त हो गयी है। तुम्हारे योग और तप करने की क्या आवश्यकता है? वह तो चुटकी में हो जायगा।"

---

२. अक्षयकुमार सेन: 'श्रीश्रीरामकृष्ण पुंथि', (बँगला) (कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय), ५वाँ संस्करण, पृष्ठ ३८७।

३. श्री नित्यगोपाल गोस्वामी ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी की अध्यक्षता में २३ मई, १८९७ को हुई रामकृष्ण मिशन असोसिएशन की सभा में अपने संस्मरण सुनाये थे।

नित्यगोपाल ने आगे स्मरण करते हुए बतलाया था कि एक ऐसी भी स्थिति आयी थी, जब भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने उसकी छाती पर अपने चरण रख दिये थे।[४] वैसे नित्यगोपाल ठाकुर के चरण दबाते रहे। श्रीरामकृष्ण ने मृदु स्वर में उससे कहा, "वह चुटकी में हो जायगा। क्या तुम जगन्माता की इच्छा को काट सकते हो ?"

इन अप्रत्याशित बातों ने नित्यगोपाल को स्तम्भित कर दिया। अभी उसे आध्यात्मिक आनन्द की जो अनुभूति हुई, वह उसकी कल्पना से भी परे थी। इस संक्षिप्त-से परिचय ने उसके श्रद्धावान् अन्तःकरण पर आश्चर्यजनक रूप से गहरा प्रभाव डाला था। श्रीरामकृष्ण की बातें, उनका रूप, भावभंगी, बोलने का ढंग और सर्वोपरि उनके व्यक्तित्व से विकिरित होते अकथनीय आकर्षण ने नित्यगोपाल को सन्त के सम्बन्ध में अत्युच्च धारणा बनाने में सहायता दी।

विदा लेने के समय श्रीरामकृष्ण ने उसे दक्षिणेश्वर पुनः आने के लिए कहा, विशेषकर मंगलवार और शनिवार

---

४. वैज्ञानिक डॉ. महेन्द्रलाल सरकार और दूसरे संशयी लोग इस प्रकार की घटनाओं को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे ही एक प्रसंग में २५ अक्तूबर, १८८५ को श्रीरामकृष्ण ने अपने व्यवहार को समझाते हुए कहा था, "आवेश में न जाने क्या हो जाता है। इस समय लज्जा आ रही है। उस समय जैसे भूत सवार हो जाता है, 'मैं' फिर 'मैं' नहीं रह जाता। इस अवस्था के बाद फिर गिनती नहीं गिनी जा सकती।" ('म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३४५)।

को। नित्यगोपाल दक्षिणेश्वर पुनः आने की आकांक्षा ले कलकत्ता लौट आया। दुर्भाग्य से अगले शुक्रवार की रात को उसे तेज ज्वर ने घेर लिया। उसे भय लगने लगा कि दूसरे दिन सुवह वह अपने निश्चय के अनुसार दक्षिणेश्वर नहीं जा पाएगा। पर सुबह होते ही उसने मन का पूरा जोर लगाकर स्नान किया और दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़ा। श्रीरामकृष्ण उसे देख प्रसन्न हुए। इस अवसर पर नित्यगोपाल ने अलग से श्रीरामकृष्ण से निवेदन किया कि साधना के रूप में वह विशेष कुछ नहीं कर पाएगा, क्योंकि उसमें वह सब निष्ठापूर्वक करने का पर्याप्त साहस नहीं है। इस पर श्रीरामकृष्ण ने उसकी छाती पर अपनी दाहिनी हथेली रखकर कहा, "तुम्हें कुछ नहीं करना होगा। मैं तुममें हूँ और तुम मुझमें हो।"

इसके बाद श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उसके अन्त-स्तल पर खमीर की भाँति कार्य करने लगा, जब तक कि खमीर पूरी तरह नहीं उठगया। खमीर अपना कार्य चुपचाप, अज्ञात किन्तु निश्चित रूप से करता रहा, जब तक कि उसका समूचा व्यक्तित्व ही नहीं बदल गया। इस प्रक्रिया ने अपना समय अवश्य लिया, पर वह ठाकुर के द्वारा निर्धारित विधि से ही सम्पन्न हुई।

इसी बीच श्रीरामकृष्ण को गले का कैंसर हो गया। जैसे ही उनकी प्राणलेवा बीमारी की खबर ब्राह्मसमाज के पत्रों में छपी, नित्यगोपाल उनके दर्शन के लिए कलकत्ता भागा। उसे पता लगा कि श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते में बल-राम बोस के ५७ रामकान्त बोस स्ट्रीट वाले घर में अच्छी चिकित्सा और सेवा-शुश्रूषा की दृष्टि से लाया गया है।

अगस्त १८८५ के तीसरे सप्ताह के एक रविवार को अपराह्न में[५] नित्यगोपाल उनके दर्शनों के लिए गया। जसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, वे अपनी सारी पीड़ा को भूल ईश्वर के सम्बन्ध में उपस्थित लोगों को बतलाकर आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरणा दे रहे थे। युवक शरत् (जो परवर्तीकाल में स्वामी सारदानन्द बने) जो तब विद्यार्थी था, परमहंस के दर्शनों के लिए आया था। उसका मित्र बैकुण्ठनाथ सान्याल भी उपस्थित था। इसके अलावा, गिरीशचन्द्र घोष, कालीपद घोष, 'म', बलराम बोस एवं उनके परिवार के सदस्य तथा कुछ अन्य लोग उपस्थित थे। दूसरी मंजिल के हॉल के पश्चिमी कोने में विराजमान श्रीरामकृष्ण का मुखमण्डल आध्यात्मिक भाव से दीप्त था। श्रीरामकृष्ण के कुछ धार्मिक वार्तालाप के बाद गिरीशचन्द्र घोष और कालीपद घोष ने मिलकर एक मधुर भजन गाया, जिसका भाव था—

ओ निताई ! मुझे जोर से पकड़ लो नहीं तो मैं बह जाऊँगा !
लोगों को हरिनाम देते-देते
मैंने अपनी प्रेम-सरिता में ऊँची लहर उठा ली है

---

५. बैकुण्ठनाथ सान्याल: 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बँगला) (कलकत्ता: सुधीरनाथ सान्याल, द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १७८। श्री सान्याल ने कोई तारीख नहीं दी है। पर रामचन्द्र दत्त के अनुसार श्रीरामकृष्ण अगस्त १८८५ के मध्य में एक शनिवार को दक्षिणेश्वर छोड़कर बलराम बोस के यहाँ रहने आ गये थे। देखें 'श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला) (कलकत्ता: उद्बोधन कार्यालय, ७वाँ संस्करण), पृष्ठ १६४।

और अब उसकी उत्ताल तरंगों द्वारा मैं निस्सहाय बहा लिया जा रहा हूँ,
ओह ! निताई, मैंने अपने ही हाथों अनुबन्ध लिख दिया था जिसके 'आठ मित्र' गवाह हैं ।
(अब) कैसे अपने प्रेम-उधार देनेवाले का ऋण मैं चुकाऊँ ?
क्योंकि मेरी सब पूँजी तो चुक गयी है
फिर भी ऋण चुकता नहीं हुआ है ।
अब तो मैं स्वयं ही ऋण को चुकाने को नीलाम हुआ जा रहा हूँ ।

जैसे-जैसे गीत के भीतर व्यक्त व्यथा मुखरित होने लगी, श्रीरामकृष्ण गहरी भावसमाधि में डूब गये और उन्होंने अपना दाहिना पैर उठाकर सामने की ओर फैला दिया । नित्यगोपाल, जो सामने ही बैठा था, ने उसे सँभालते हुए अत्यन्त सावधानीपूर्वक अपनी छाती से लगा लिया । इस स्पर्श का प्रभाव उस पर अप्रत्याशित हुआ । श्रीरामकृष्ण के अधरों पर दिव्य मधुर मुसकान खेल रही थी, जबकि भाव में डूबे हुए नित्यगोपाल के मुँदे नेत्रों से आँसुओं की झड़ी उसके कपोल और छाती को भिगो रही थी । वहाँ पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से मानो मोहित-सा सच्चिदानन्द के सागर में पूरी तरह विभोर हो गया था ।

भजन पूरा हुआ, श्रीरामकृष्ण अर्धबाह्यदशा को प्राप्त हुए । कुछ देर बाद उन्होंने नित्यगोपाल तथा उपस्थित भक्तों से प्रेमविभोर हो कहा, "कृपया बोलो श्रीकृष्णचैतन्य, बोलो श्रीकृष्णचैतन्य, बोलो श्रीकृष्ण-चैतन्य ।" इस प्रकार नित्यगोपाल तथा अन्य भक्तों के

द्वारा तीन बार[६] इस पवित्र नाम का उच्चारण करवा-कर श्रीकृष्ण धीरे-धीरे साधारण भूमि पर लौटे। उसके थोड़ी देर बाद वे दूसरों से धर्म पर चर्चा करने लगे। हृदय को आलोड़ित करनेवाले श्रीरामकृष्ण के शब्द तथा अपनी सहजता से मुग्ध करनेवाले उनके चुटकुले और दृष्टान्त सुननेवालों के सामने उनके आध्यात्मिक जीवन के अद्भुत अनुभवों को प्रकट करने लगे।

इस महत्त्वपूर्ण घटना के बाद नित्यगोपाल को जो आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था, उसका वर्णन उन्होंने रामकृष्ण मिशन असोसिएशन के सदस्यों के सामने १८९७ में किया था। उन्होंने जो बतलाया था, संक्षेप में वह इस प्रकार है—"मैं फिर वापस ढाका चला गया था। उस समय मैं गहरे मानसिक उद्वेलन से परेशान था। ढाका के बाहरी क्षेत्र से लगा एक जंगल था, जिसे मुसलमान लोग कब्रिस्तान के रूप में उपयोग में लाते थे। एक दिन जब मैं वहाँ यूँही विचर रहा था, तब मैंने कुछ कदम पर ही एक व्यक्ति को बैठे देखा।

६. वैकुण्ठनाथ सान्याल ने अपने ग्रन्थ 'श्रीश्रीरामकृष्णलीला-मृत' में समझाया है कि पवित्र मंत्र को तीन बार क्यों उच्चारित किया जाता है। शिष्य के तीनों—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति वाले—मानसिक धरातलों के शुद्धीकरण हेतु शास्त्र कहते हैं कि पवित्र मंत्र को तीन बार गुरु द्वारा उच्चारित करना चाहिए। श्रीरामकृष्ण के अनुसार, जैसा कि सान्याल लिखते हैं, भारी मालवाहक नौका के नाविक लोग लंगर लगानेवाले बाँस को तीन बार जोरों से ठोकते हैं, जिससे वह नदी के तल में मजबूती से गड़ जाय, उसी प्रकार पवित्र मंत्र का जोर भी तीन बार देना चाहिए।

मैंने उससे पूछा, 'तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?' मुझे मालूम था कि उस क्षेत्र में लोग मैना पक्षी पकड़ने के लिए आते रहते हैं इसलिए मैंने उस व्यक्ति को भी वैसा ही समझा। मानो कुछ बतलाने के लिए आतुर हो उस व्यक्ति ने मुझे अपने समीप बुलाया। और उसके वचनों ने सब संशय दूर कर दिये। वह जाने के लिए उठा। जैसे वह बढ़ा, उसने पलटकर मुझसे उसी करुणापूर्ण आवाज में कहा, 'मेरे बच्चे, नित्यगोपाल, जो तुमने पाया है, उसे गँवाओ मत।' इसके बाद मुझे वह वहाँ फिर नहीं मिला। मैं विजयबाबू (विजयकृष्ण गोस्वामी) के पास गया और उन्हें सब कुछ बतलाया। विजयबाबू ने मुझे बतलाया कि इस प्रकार उन्होंने भी उनके (अर्थात् श्रीरामकृष्ण के) दर्शन पाये हैं। उस दिन पूरी रात सपने दिखायी देते रहे, जिसमें कभी मैं उनसे बात कर रहा था तो कभी वे मुझसे, और इस प्रकार सतत दिव्य आनन्द मुझे मिल रहा था। सुबह उठने पर मुझे एक संन्यासी मिले। उन्होंने मुझसे कुछ खाने के लिए माँगा और ओढ़ने के लिए मेरी चादर माँगी। जब मैंने उनकी जरूरत की चीजें उन्हें दे दीं, तब उन्होंने अपने चरणों को मेरे सिर पर स्थापित कर मुझे आशीर्वाद दिया। उसके बाद फिर मैंने उन्हें वहाँ और नहीं देखा।"[७]

श्रीरामकृष्ण का अप्रतिहत प्रभाव नित्यगोपाल के व्यक्तित्व में गहरा भिद गया। विद्वान् नित्यगोपाल धीरे-धीरे एक गूढ़ आध्यात्मिक साधक में बदल रहे थे,

---

७. रामकृष्ण मिशन असोसिएशन की २३ मई, १८९७ को आयोजित पाँचवीं सभा।

दिव्यता के मन्दिर के पथ के एक उत्साही यात्री बन रहे थे। निष्ठावान् होने के कारण श्रीरामकृष्ण की ओर—उनके व्यक्तित्व तथा जिन आदर्शों के वे मूर्तविग्रह थे उनकी ओर—अधिकाधिक आकर्षित होते चले जा रहे थे। धीरे-धीरे जिस अभिनव सन्देश ने उनके जीवन को बदल दिया था तथा जो विश्व-शान्ति के लिए नयी आशा लेकर आया था, उसके प्रचार-प्रसार के वे एक योग्य माध्यम बन गये।

जब श्रीरामकृष्ण ९० काशीपुर रोड पर स्थित काशीपुर उद्यान में रह रहे थे, तब वे भक्तों के मंगल के लिए चिन्ता और सहानुभूति से भरे हुए थे। उनके लीलासंवरण के कुछ दिन पूर्व नित्यगोपाल उनके दर्शन के लिए आये। भेंट के अन्त में श्रीरामकृष्ण ने उनकी छाती का अपने हाथ से स्पर्श किया और फिर हाथ उठाकर, कहा, "अच्छा, मैं जा रहा हूँ।" यह उन लोगों की अन्तिम भेंट थी।[८]

परवर्ती जीवन में हम नित्यगोपाल को श्रीरामकृष्ण के जीवन और सन्देश के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में पाते हैं। रामकृष्ण मिशन असोसिएशन की १३ बोसपारा लेन, बागबाजार, कलकत्ता में होनेवाली साप्ताहिक सभाओं में वे बहुत उत्साह से भाग लेते। कभी अपने प्रवचनों से तो कभी भजन गाकर वे समागत लोगों का मनोरंजन करते। ढाका में रामकृष्ण मिशन असोसियेशन की शाखा १८९९ में श्रीरामकृष्ण-

८. मणिभूषण दासगुप्ता : 'स्मृतिर सौरभ', उद्बोधन, भाग ४६, अंक ९, पृष्ठ ३९०।

देव के जन्मदिन पर नित्यगोपाल गोस्वामी के मकान में ही शुरू की गयी। इस अवसर पर नित्यगोपाल ने श्री-रामकृष्ण के प्रमुख सन्देश 'अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर फिर जो करना हो करो' पर लिखा अपना व्याख्यान पढ़ा था।[९]

सन् १९१२ से १९१९ तक श्रीरामकृष्ण के अन्य भक्त मणिभूषण गुप्त नित्यगोपाल से उनके मालाकार टोला, ढाकावाले निवासस्थान पर यदा-कदा भेंट करते रहते थे। तेजस्वी, गौरवर्ण, मध्यम कद, स्वस्थ शरीर और श्वेतधवल केशदाढ़ीवाले गोस्वामी नित्यगोपाल आकर्षक तथा ऋषिसदृश दिखायी देते थे। प्रत्येक रविवार को उनकी उपस्थिति में भजनों का कार्यक्रम होता। एक दिन भावविभोर हो वे उठ खड़े हुए और उनकी देह श्रीकृष्ण की त्रिभंग मुद्रा में तीन स्थानों पर झुक गयी। धोती खिसक गयी और उनका बाह्य ज्ञान जाता रहा। वे श्रीकृष्ण के चिन्तन में गहरी भावावस्था में डूब गये थे।[१०]

नित्यगोपाल श्रीरामकृष्ण के उन विशिष्ट भक्तों में से थे, जिन लोगों के भीतर श्रीरामकृष्ण ने प्रत्येक के भाव के अनुकूल मार्गदर्शन कर आध्यात्मिक चेतना को जगा दिया था। फिर, वे उन चुने हुए भक्तों में से थे, जिन लोगों को श्रीरामकृष्ण की कृपा से बार-बार ईश्वर के साक्षात्कार का अनुभव मिला था। तथापि अन्तिम

९. ढाका से स्वामी विरजानन्द का पत्र : देखें 'उद्बोधन', भाग १, अक ६, पृष्ठ १८७।

१०. 'स्मृतिर सौरभ', पृष्ठ ३८९।

निष्कर्ष, अन्य लोगों के समान ही, यह था कि नित्यगोपाल गोस्वामी ने अन्त में यह अनुभव किया कि श्रीरामकृष्ण उस दिव्य कृपा के केन्द्रबिन्दु हैं, जहाँ से विभिन्न आध्यात्मिक अनुभवों की त्रिज्याएँ दिव्यता की परिधि की ओर जाती हैं।

○

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथा

एक बार कुछ मछुआरिनों को बाजार से लौटते हुए राह में रात हो गयी, आसमान में बादल घिर आये और आँधी चलने लगी। उन्हें पास ही एक मालिन के यहाँ आश्रय लेना पड़ा। मालिन ने जिस कमरे में उनके सोने की व्यवस्था की, उसमें फूलों की टोकरियाँ रखी हुई थीं। उन फूलों की सुगन्ध के कारण मछुआरिनों को काफी रात तक नींद नहीं आ पायी। आखिर उनमें से एक ने कहा, "बाहर जो हमारी मछली की टोकरियाँ रखी हैं, उन पर थोड़ा पानी छिड़ककर अगर हम अपने सिरहाने रख लें, तो उस गन्ध से यह फूलों की गन्ध दब जाएगी।" यह सुझाव सभी को पसन्द आया। और तब सब मछुआरिनों ने अपनी-अपनी टोकरी पर पानी छिड़ककर वह अपने सिरहाने रख ली और देखते ही देखते वे सब की सब मजे से खर्राटे भरने लगीं।

संसारी जीवों का यही हाल है। वे विषय-सुख और भोग-वासना के वातावरण में पले होते हैं, इसलिए त्याग और पवित्रतापूर्ण वातावरण में जाते ही उनका दम घुटने लगता है और वे बेचैन हो जाते हैं।

○

कर्म-रहस्य

(गीताध्याय ४, श्लोक १६-१८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पुरखों की ओर देखने का निर्देश किया। अर्जुन को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसे लगा कि श्रीकृष्ण अपना जो उदाहरण दे रहे हैं, वही पर्याप्त है, फिर वे 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' (पुरखों ने पूर्व में जैसा किया था) क्यों कहते हैं? श्रीकृष्ण का उत्तर यह है कि अर्जुन, हो सकता है मेरा उदाहरण तुझे पर्याप्त न मालूम पड़े या फिर यह भी हो सकता है कि तुझे लगे मैंने कोई नया रास्ता खोज निकाला है, इसीलिए मैंने पूर्वजों का उदाहरण दिया। वे भी उसी लक्ष्य को पाने के लिए चले थे, जिसे तू भी पाना चाहता है। उन्होंने जब उस रास्ते से चलकर उस लक्ष्य को पा लिया, तब उनका उपक्रम तेरे लिए भी निस्सन्देह लाभदायक होगा, यही सोचकर मैंने तेरा ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया है। उनकी ओर दृष्टिपात करने से तुझे भी पथ की सही जानकारी मिल सकेगी। वे जिस रास्ते से गये हैं, वह जाना-पहचाना रास्ता है, उसी से चल तो खतरे से बच जायगा। "त्वं पूर्वैः जनकादिभिः पूर्वतरं कृतं न अधुनातनं कृतं निर्वर्तितम्" (आचार्य शंकर)—अर्थात् 'तू जनकादि पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए कर्म कर (यानी उसी रास्ते से चल, जिससे वे गये हैं), नये ढंग से किये जानेवाले कर्म मत कर (यानी अपने लिए तू नया रास्ता बनाने में समय

और शक्ति का दुरुपयोग न कर)।'

भगवान् की इस सावधानी का कारण यह है कि अध्यात्म का रास्ता पहाड़ी रास्तों के समान जटिल होता है। जानकार आदमी ही पहाड़ी रास्तों पर चल सकता है। जो नया आदमी पहाड़ों की सैर करना चाहता है, उसके लिए 'गाइड' (मार्गदर्शक) लेना अनिवार्य हो जाता है। जो पहाड़ों की पैदल सैर में गये हैं, वे जानते हैं कि अकेले, बिना कोई 'गाइड' लिये, पहाड़ों की सैर कितनी खतरनाक है। जब हम पहली बार गोमुख की यात्रा पर गये, तब देखा कि पहाड़ों में 'गाइड' लिये बिना काम नहीं चलता। आजकल सुना है कि गोमुख का रास्ता काफी अच्छा बना दिया गया है, पर पहले बहुत खतरनाक था। एक खतरनाक तो वह होता है, जहाँ पग-पग पर गिरने का भय होता है—पैर एक बार फिसला कि नीचे गिरे—कितना नीचे कोई अन्दाज नहीं लगता। और नीचे बहती वेगवती धारा गिरनेवाले व्यक्ति का अता-पता नहीं चलने देती। दूसरा खतरनाक वह है कि जहाँ पर जाना चाहते हैं वहाँ न जाकर रास्ता कहीं और निकल जाता है। पहाड़ों के साथ यह दोनों प्रकार की भयावहता बनी रहती है। हम लोग भुजवासा पहुँचकर बाबा लाल-बिहारीदास के आश्रम में रात के लिए टिके। वहाँ एक बूढ़ी माई भी थी। बंगाल से अपने बेटे के साथ आयी थी। उसका लड़का सुबह से गोमुख गया था। रात ८ बज गये थे, पर लौटा नहीं था। गोमुख उस स्थान से अधिक से अधिक ५ किलोमीटर होगा। बूढ़ी रो रही थी। स्वाभाविक भी था। जब से लड़का निकला था, तब से अब तक कम से कम तीन बार गोमुख का चक्कर

लगाया जा सकता था। हम लोगों ने वृद्धा को तरह-तरह से समझाया--कहा कि वह तपोवन चला गया होगा, या नन्दनवन के लिए कोई साथी मिल गया होगा, वहाँ से लौट रहा होगा। पर वृद्धा के आँसू थमते न थे। हम लोग ऊपर से समझाते तो थे, पर हमें भी भीतर भय था कि इतनी देर तक जब लड़का नहीं लौटा, तब अवश्य उसका 'कुछ' हो गया होगा। बाबा लालबिहारी-दासजी ने अपने दो-तीन जनों को टार्च देकर इधर-उधर दौड़ाया। आखिर रात ९॥ बजे वे लोग लड़के को लेकर लौटे। लड़के ने बताया कि वह सुबह अकेला ही गोमुख के लिए रवाना हुआ। महात्माजी ने कहा था कि किसी को साथ ले जाना, पर उसे लगा कि रास्ता सीधा है, अकेला चला जाऊँगा, और वह रास्ता भटक गया। वह आखिर गोमुख पहुँच ही नहीं पाया। वह एक रास्ते से दूसरे रास्ते में जाता, फिर तीसरे में। पहाड़ों में भेड़-बकरी चरानेवाले बकरवालों के चलने से पगडण्डियाँ बनी होती हैं। अनजान आदमी भटक जाता है। यह तो लड़के का भाग्य था कि जब उसने सारी आशा छोड़ दी थी, तब महात्माजी द्वारा भेजे गये आदमियों की उसने आवाज सुनी और टार्च की रोशनी देखी।

कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यात्म का पथ भी इसी प्रकार जटिल है। पहाड़ों के रास्ते ऐसे दिखते हैं मानो सभी गन्तव्य तक पहुँचानेवाले हों, पर उनमें एक ही रास्ता सही होता है, शेष तो पथिक को दूसरी ओर ले जाकर भटका देते हैं। अपना रास्ता बनाने के चक्कर में व्यक्ति ऊपर कहे गये बंगदेशीय लड़के के समान दिशाहारा होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है। इसीलिए

जैसे पहाड़ी रास्तों पर चलते समय हमें उन लोगों का अनुसरण करना पड़ता है, जो स्वयं उन रास्तों से होकर गये हैं, वैसे ही अध्यात्म के पथ पर भी पहले के चले हुए लोगों का अनुवर्तन करना ही हमारे लिए Safe (सुरक्षित) होता है।

अगले श्लोकों में पथ की दुर्गमता के कारणों का संकेत देते हुए कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

कर्म (कर्म) किम् (क्या है) अकर्म (अकर्म) किम् (क्या है) इति (ऐसे) अत्र (इस [विषय] में) कवयः (बुद्धिमान् पुरुष) अपि (भी) मोहिताः (मोहित हैं) तत् (इसलिए) ते (तेरे लिए) कर्म (कर्म) प्रवक्ष्यामि (अच्छी तरह से कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (अशुभ अर्थात् संसार-दोष से) मोक्ष्यसे (छूट जायगा)।

"कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं (अर्थात् वे भी कर्म और अकर्म का निर्णय करने में बहुधा गड़बड़ा जाते हैं), इसलिए मैं तेरे प्रति कर्म का तत्त्व अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ (यानी संसार-बन्धनरूप दोष) से छूट जायगा।"

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।१७।।

कर्मणः (कर्म का [स्वरूप]) अपि (भी) बोद्धव्यं (जानना चाहिए) च (और) विकर्मणः (विकर्म का [स्वरूप]) बोद्धव्यं (जानना चाहिए) च (तथा) अकर्मणः (अकर्म का [स्वरूप]) बोद्धव्यं (जानना चाहिए) हि (क्योंकि) कर्मणः (कर्म की) गतिः (गति) गहना (गहन है)।

"कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी, फिर अकर्म का भी स्वरूप जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है।"

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।

यः (जो) कर्मणि (कर्म में) अकर्म (अकर्म) च (और) अकर्मणि (अकर्म में) कर्म (कर्म) पश्येत् (देखता है) सः (वह) मनुष्येषु (मनुष्यों में) बुद्धिमान् (बुद्धिमान् है) सः (वह) युक्तः (योगी है) कृत्स्नकर्मकृत् (सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है)।

"जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है।"

१६वें श्लोक में कर्म और अकर्म शब्दों का उल्लेख हुआ है। फिर अगले श्लोक में एक और शब्द 'विकर्म' आया है। इस प्रकार हमें 'कर्म', 'विकर्म' और 'अकर्म' इन तीनों शब्दों को समझना है, जसा कि १७वाँ श्लोक कहता है। १८वें श्लोक में कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखने की बात कही गयी है, जिसके कारण इन तीनों शब्दों का अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इनका अर्थ इतने विभिन्न प्रकार से किया है कि १६वें श्लोक में जो कहा गया है 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः', यह कथन सार्थक प्रतीत होता है।

'कर्म' का जो अर्थ सामान्यतया किया जाता है, वह है स्वधर्माचरण, जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं। 'अकर्म' में जो 'अ' उपसर्ग लगा है, उससे कई अर्थ सूचित होते हैं, जिनमें अभाव, अप्रशस्तता (बुराई या अयोग्यता), विरुद्ध या प्रतिषिद्ध प्रमुख हैं। इससे अकर्म का तात्पर्य हो जाता है--कर्म का अभाव, बुरा या अप्रशस्त या

तामस कर्म, विरुद्ध या प्रतिषिद्ध कर्म । इसी प्रकार 'विकर्म' में लगा हुआ 'वि' उपसर्ग अपने कई अर्थों में विपरीत, प्रतिषिद्ध और विशेष इन अर्थों को सूचित करता है, इससे विकर्म के भी कई अर्थ हो जाते हैं; यथा––विपरीत या प्रतिषिद्ध कर्म, विशिष्ट कर्म । अब, ये अर्थ आपस में ही इतने विपरीत हैं कि उपर्युक्त तीनों श्लोकों का सर्वमान्य अर्थ खोजना असम्भव-सा हो जाता है। सिद्धान्तविशेष से प्रतिबद्ध टीकाकार इन शब्दों का ऐसा अर्थ करते हैं, जो उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन करे। ऐसी दशा में हम जो अर्थ यहाँ पर प्रस्तुत करेंगे, उसके लिए सर्वमान्यता या सम्यक्ता का दावा करना धृष्टता ही होगी। इतना ही कह सकते हैं कि यह भी एक दृष्टि है, जिससे इन तीनों श्लोकों के अर्थ पर विचार किया जा सकता है।

१६वें श्लोक के पूर्व भाग में भगवान् कहते हैं कि कर्म और अकर्म को लेकर बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं। यह सुनकर विचार उठता है कि कर्म और अकर्म की यह जटिलता कौनसी है कि बुद्धिमान् लोग भी मोह में पड़ जाते हैं। इसको समझने के लिए प्रारम्भ में मैंने पहाड़ों की सैर का जो उदाहरण दिया था, वह सहायक हो सकता है। जैसे हमने कहा था कि बंगाल से आया वह लड़का भुजबासा से गोमुख जाते-जाते पथ खो बैठा और सारा दिन चक्कर मारता रहा, फिर भी गोमुख नहीं पहुँच सका। पहाड़ों में कई पगडण्डियाँ दिखायी देती हैं, पर सभी गन्तव्य तक नहीं ले जातीं। वे सब अलग-अलग दिशाओं में ले जाती हैं। जैसे मुझे गोमुख जाना है। तो, जो रास्ता गोमुख ले जाता है, उसे हम

'कर्म' की तुलना मान लें और जो रास्ता गोमुख नहीं ले जाता, उसे 'अकर्म' की। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भी सत्य के पास जाने के कई रास्ते तो दिखायी देते हैं, परन्तु उनमें से कुछ ही वस्तुतः सत्य की ओर ले जाते हैं, शेष नहीं। अब, जो सत्य की ओर ले जाएँगे, वे तो 'कर्म' हो गये, और जो सत्य की ओर नहीं ले जाते, वे 'अकर्म'।

इस प्रकार 'कर्म' वह है जो करणीय है, और 'अकर्म' वह है जो करणीय नहीं है। पर यहाँ एक कठिनाई यह है कि जो एक के लिए 'कर्म' होगा, हो सकता है वही दूसरे के लिए 'अकर्म' हो। फिर यह बात भी है कि कर्म और अकर्म के स्वरूप में कर्ता की मानसिकता के कारण परिवर्तन होता रहता है। कल्पना कीजिए तीन मित्र हैं। एक की अचानक मृत्यु हो गयी। उसके दोनों मित्र जाकर अपने स्वर्गीय मित्र की पत्नी को दिलासा देते हैं—"भाभी, चिन्ता न करना! भाई साहब न रहे तो हम लोग तो हैं।" और वे दोनों अपनी मित्र-पत्नी की सहायता करते हैं। एक व्यक्ति तो शुद्ध मन से, सहायता की दृष्टि से ही सहायता करता है, पर दूसरे के मन में पाप है। ऐसी दशा में कर्म तो ऊपर से दोनों के ही समान हैं, पर तत्त्व की दृष्टि से पहले व्यक्ति के लिए वह कर्म होगा, पर दूसरे के लिए विकर्म अर्थात् विपरीत कर्म हो जायगा।

इसी प्रकार यदि कर्म समय पर किया गया, तो कर्म है और समय बीतने पर किया गया, तो अकर्म। एक व्यक्ति को रक्त की तत्काल आवश्यकता है। मेरा ब्लडग्रूप उससे मिलता है। अब मैं सोचने लगा कि

रक्त दूँ या न दूँ। शरीर से यदि इतना रक्त निकाल लें तो मैं क्या दुर्बल नहीं हो जाऊँगा? इसी ऊहापोह में मैंने समय बिता दिया और जब निश्चय करता हूँ कि नहीं, एक व्यक्ति के प्राण बच जाएँगे, मेरी कमजोरी भी कुछ दिनों में ठीक हो जायगी, इसलिए रक्तदान कर ही दूँ, और ऐसा सोचकर जाकर रक्त देता हूँ, तो पता चलता है कि विलम्ब के कारण रोगी खत्म हो गया! अब मैंने कर्म तो किया, पर वस्तुतः वह अकर्म हो गया।

यही समस्या अकर्म के साथ भी है। मैं ध्यान में बैठा हूँ। यह अकर्म है। इतने में कोई आकर मेरे गुरु-जनों का अपमान करता है, फिर भी मैं अपनी निष्ठा का दिखावा करता हुआ ध्यान से नहीं उठता। ऐसी दशा में मेरा यह अकर्म विकर्म हो जाता है।

गीता में इस प्रकरण से पूर्व भी 'अकर्म' शब्द का उपयोग हुआ है, पर उन सब स्थानों में उसका अर्थ 'कर्म का त्याग' ही लिया गया है। जैसे—'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' (२।४७) (कर्म न करने में तेरी रुचि न होवे), 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३।५) (कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता), 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' (३।८) (कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है), 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः (३।८) (कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा)।

कुछ दूसरे टीकाकारों ने शरीर-यात्रा जिससे चले मात्र उतने कर्म को 'अकर्म' माना है। वे उसका अर्थ

'निवृत्ति' करते हैं और कर्म का अर्थ 'प्रवृत्ति'। यही कारण है कि कर्म-अकर्म की पहिचान इतनी कठिन है। अब हम समझ सकते हैं कि भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं—'कवय: अपि अत्र मोहिता:'।

फिर १६वें श्लोक के उत्तरभाग में वे कहते हैं कि मैं तुझे कर्म की सही-सही जानकारी दूँगा, जिससे तू अशुभ से छूट जायगा। प्रश्न उठता है कि मात्र जानकारी अशुभ से हमारी रक्षा कैसे कर सकती है? इसे समझने के लिए हम पुन: गोमुखवाला उदाहरण लें। जैसे गोमुख जाने के लिए कई रास्ते दिखायी दे रहे हैं। एक जानकार व्यक्ति कहता है—आओ, मैं तुम्हें बता देता हूँ कि कौन-सा रास्ता गोमुख जायगा। इस प्रकार जब मैंने कर्म को, गोमुख जाने के सही रास्ते को जान लिया, तब यह जानकारी भटकावरूपी अशुभ से मेरी रक्षा कर देगी। यदि मुझे सही रास्ता दिखानेवाला न मिलता, तो मैं भी उस बंगालीबाबू के समान सारा दिन भटककर सम्भवत: अपना नाश ही कर लेता। तो, सही रास्ते का ज्ञान मनुष्य की अशुभ से, अमंगल से रक्षा करता है।

कोई शंका कर सकता है कि भगवान् ने 'कर्म प्रवक्ष्यामि' (कर्म बताऊँगा) ऐसा कहा है, 'अकर्म प्रवक्ष्यामि' (अकर्म बताऊँगा) ऐसा तो नहीं कहा, जबकि चर्चा वे कर्म और अकर्म दोनों की करते हैं। इस शंका का समाधान यों कहकर किया जा सकता है कि साधक का काम 'कर्म' की जानकारी से ही सिद्ध हो जाता है। गोमुख जाने का रास्ता जब हमें दिखा दिया गया, तो हम उसी से जाएँगे। दूसरे रास्ते भी कितने ही स्पष्ट क्यों न दिखायी देते हों, हम उधर दृष्टिपात नहीं करेंगे।

जब मार्गदर्शक ने यह कह दिया कि इस रास्ते से जाओ, तो उसमें यह आशय भी निहित है कि दूसरे रास्तों से मत जाओ। भगवान् जो कुछ बताएँगे, वह कर्म है और वे जो नहीं बताएँगे, उसे हम कर्म नहीं कहेंगे——यही आशय यहाँ पर ध्वनित होता है। तथापि यहाँ यह कह दें कि भगवान् अकर्म क्या है यह भी आगे चलकर (१९वें से २३वें श्लोक में) बता ही देते हैं।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि कर्म का तात्पर्य स्वधर्माचरण से होता है। यह जो कर्म-अकर्म-विकर्म की इतनी चर्चा यहाँ पर की जा रही है, उस सबका तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्म-बन्धन से अपने को बचाए। अर्जुन को गीता इसी अभिप्राय से सुनायी गयी है कि वह ऐसा तरीका जान ले, जिससे घोर प्रतीत होनेवाला युद्धकर्म करते हुए भी वह उसके बन्धन से बच जाय। गीता-गायन का प्रयोजन मनुष्यमात्र के समक्ष वह रसायन रखना है, जिसके प्रभाव से वह कर्मविष से बचा रहे। हम कर्मविष से, कर्म-बन्धन से क्यों बचना चाहते हैं? ——इसलिए कि वह हमारे चित्त को बहुत चंचल बना देता है। प्रश्न उठा कि चित्त यदि चंचल ही हो गया, तो क्या हानि है?——हानि यह है कि चंचल चित्त हमारे अन्तर्निहित सत्य को सही रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाता। आत्मा हमारे जीवन का अन्तर्निहित सत्य है। उसका साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है और इसी को जीवन का परम प्रयोजन माना गया है। भक्ति की भाषा में इसी को भगवद्दर्शन कहते हैं। आत्मा का साक्षात्कार सर्वप्रथम चित्त के माध्यम से ही होता है। यह चित्त उस आत्मचैतन्य को सतत प्रतिफलित कर

रहा है। पर जैसे हिलते-डुलते जल में कोई अपनी परछाईं ठीक ढंग से नहीं देख पाता, सही रूप में परछाईं देखने के लिए जल का शान्त-स्थिर होना आवश्यक है, उसी प्रकार चंचल चित्त आत्मा के स्वरूप को सही-सही प्रतिफलित नहीं कर पाता। जब वह शान्त-स्थिर होता है, तब आत्मचैतन्य को उसके सही स्वरूप में प्रतिफलित करने में समर्थ होता है।

अब, हम जो कर्म करते हैं, वे कर्मासक्ति-फलासक्ति आदि से युक्त होने के कारण चित्त को और भी चंचल बना देते हैं। इसी को हम कर्म-बन्धन कहते हैं। यदि हमें चित्त को शान्त और स्थिर करना हो, तो दो तरीके हो सकते हैं। एक तो यह कि हम कर्म इस प्रकार करें, जिससे चित्त की चंचलता दूर हो। दूसरा यह कि हम कर्म करना ही बन्द कर दें। पहले उपाय को गीता में 'कर्म' कहा गया है और दूसरा उपाय 'अकर्म' के नाम से सूचित हुआ है। पर प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य अकर्म की स्थिति में रह सकता है? गीता में (३/५) ही कहा गया है कि कोई भी बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता; यदि वह चुप बैठना भी चाहे, तो प्रकृति के गुण उसे बलपूर्वक कर्म में लगाएँगे। ऐसी स्थिति में कोई हठ करके कर्म छोड़कर, हाथ-पैर बाँधकर, बैठना ही चाहे तो भले ही ऊपर से वह अकर्म—कर्महीन—दिखता हो, पर वस्तुतः वह क्रियारहित नहीं है। उसके जीवन में सोना-बैठना, उठना-चलना, खाना-पीना ये सब कर्म तो होते ही रहते हैं। ऐसा अकर्म तो एक आलसी, निठल्ले और प्रमादी व्यक्ति के जीवन में भी दिखायी देता है। विवेच्य श्लोकों के अर्थ-चिन्तन से

लगता है कि अकर्म का तात्पर्य और भी ऐसा कुछ होगा, जो अधिक गूढ़ और रहस्यमय है। इसी गूढ़ तात्पर्य को आगे के १९वें से २४वें तक के श्लोकों में प्रकट करते हुए अकर्म के वास्तविक स्वरूप को सामने रखा गया है। यह बताया गया है कि कर्म का अभाव अकर्म नहीं है, अपितु कर्म करते हुए कर्तापन का न रहना ही सच्चा अकर्म है। जब हममें कर्तापन का भाव रहता है, तब निठल्ले बैठे रहना भी कर्म हो जाता है। आलसी की अवस्था अकर्म की नहीं, बल्कि तामसिक कर्म की अवस्था है। इसीलिए अकर्म को समझ पाना इतना कठिन है।

आज से कुछ वर्ष पहले तक जो संन्यास लेता था, वह अपने को ज्ञान का अधिकारी मानकर जागतिक कर्म छोड़कर उत्तराखण्ड चला जाता था और भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। उससे यदि कोई कहता कि आप कर्म क्यों नहीं करते, तो उसका उत्तर होता—हम ज्ञान के अधिकारी हैं—निवृत्तिमार्गी हैं, कर्म तो निम्न अधिकारी व्यक्ति करेगा—प्रवृत्तिमार्गी करेगा। उसकी कर्म के प्रति अवज्ञा-बुद्धि होती। परन्तु वह भूल जाता कि मात्र सिर मूँड़ लेने से कर्तापन मुण्डित नहीं हो जाता। मात्र कर्म छोड़ देने से किसी को ज्ञानधारण की योग्यता नहीं मिल जाती। वह योग्यता मिलती है चित्त की शुद्धि से और चित्त शुद्ध होता है योगयुक्त होकर कर्म करने से।

जब व्यक्ति का चित्त योगयुक्त होकर कर्म करने से शुद्ध हो जाता है, तब वह कर्म तो करता है, और तीव्र कर्म करता है, पर कर्म का कर्तापन और कर्मफल का भोक्तापन अपने ऊपर न ले भगवान् को समर्पित कर

देता है। इसको 'निष्काम कर्म' भी कहते हैं। इससे कर्म का दोष निकल जाता है और यह अवस्था भी 'अकर्म' कहलाती है। वास्तव में देखा जाय तो यही कर्मयोग में सही अकर्म की अवस्था है। इसको 'नैष्कर्म्य' भी कहते हैं। कर्म को हठपूर्वक छोड़कर, आलस्य और प्रमाद के कारण जो अकर्म सधता है, उसके लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं; ऐसा अकर्म तो एक जड़मूढ़ व्यक्ति के जीवन में भी दिखायी देता है। अतः वह कोई स्पृहणीय अवस्था नहीं है। वहाँ उस व्यक्ति का कर्तापन-भोक्तापन पूरी मात्रा में बना रहता है, भले वह निठल्ला दिखायी देता हो। वह सभी प्रकार से कर्मपाश में बँधा होता है। उसका अकर्म उसके कर्म-बन्धन को और भी उलझा देता है। किन्तु कर्तापन-भोक्तापन के विलोप से साधक के जीवन में जो 'अकर्म' आता है, वह महती साधना के फलस्वरूप प्राप्त होता है और वह कर्मपाश को छिन्न कर देता है। यह अकर्म ही कर्म का लक्ष्य है।

अतः स्पष्ट हो गया होगा कि अकर्म को समझना इतना कठिन क्यों है। जो व्यक्ति अकर्म की स्थिति को प्राप्त होने का अभिनय करता है, उसकी कसौटी बाहर के लक्षणों को देखकर करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। वह स्वयं ही इसका ज्ञाता होता है कि उसे सचमुच अकर्म की स्थिति प्राप्त हो गयी, अथवा वह ढोंग कर रहा है। इसीलिए कहा कि कर्म और अकर्म को समझने में बुद्धिमान् पुरुष भी भ्रम में पड़ जाते हैं। और जो कर्म को सही-सही समझ लेता है, वह फिर भटकाव की अमंगलकारक स्थिति से छुटकारा पा जाता है।

१७वें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों को जानना चाहिए। हमने कर्म और अकर्म को तो विस्तार से देखा, अब जरा विकर्म पर चिन्तन करें। हमने पूर्व में कहा कि विकर्म में जो 'वि' उपसर्ग लगा है, उसके कई अर्थों में दो प्रमुख हैं——एक है 'विपरीत', जैसे धर्म और विधर्म; दूसरा है 'विशेष', जैसे ज्ञान और विज्ञान। अतएव 'विकर्म' का एक अर्थ हुआ विपरीत कर्म, यानी शास्त्रनिन्दित, समाजनिन्दित कर्म; और दूसरा हुआ विशेष कर्म, यानी जो कर्म विशेषता के साथ, दक्षता के साथ किया जाता हो। कर्म, अकर्म और विकर्म के इन विविध अर्थों के सन्दर्भ में गीता का वास्तविक सन्देश क्या है, इसके समझने में कठिनाई तो अवश्य होती है, पर हम मुख्यतः दो अर्थों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करेंगे, जो हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी हैं।

पहला अर्थ

हमने पूर्व में कहा कि गीता का सिद्धान्त अपना-अपना कर्म करते हुए परम-सिद्धि को पाने का है। गीता के १८ वें अध्याय में अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं——

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

——'अपने-अपने सहज कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अपने कर्म में निरत होते हुए वह सिद्धि को कैसे पाता है, वह मुझसे

सुन। जिस परमात्मा से यह सारी प्रवृत्ति, यह जगत्-संसार निकला है और जिससे सारा जगत् व्याप्त है, उसकी अपने (स्वधर्माचरणरूप) कर्म के द्वारा पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।'

यहाँ पर श्रीकृष्ण कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा करने की बात कहते हैं---केवल वाणी अथवा फूलों के द्वारा नहीं। प्रश्न उठता है कि कर्म से भगवान् की पूजा कैसे की जाय? इसका उत्तर यह है कि जब हम भगवत्समर्पित बुद्धि से, ईश्वर की प्रीति के लिए, अपने कर्तव्य-कर्म का आचरण करते हैं, तो वह कर्म भगवान् की पूजा बन जाता है। ध्यान यह रखना पड़ता है कि हममें कर्म का कर्तापन न आए, कर्मफल का भोक्तापन न आए। यह कोई सरल साधना नहीं है। बारम्बार मन पर यह संस्कार डालना पड़ता है कि जो भी कर्म मैंने किया, उसका कर्तापन और उसके फल का भोक्तापन, हे प्रभु, मैं तुझे समर्पित करता हूँ। अभ्यास से यह साधना दृढ़ होती है।

यहाँ पर फिर एक प्रश्न उठता है कि क्या हम सब प्रकार का कर्म इस प्रकार ईश्वर-समर्पित भाव से कर सकते हैं? इसका गीता से उत्तर प्राप्त होता है कि नहीं। कर्म के तीन भेद हैं---कर्म, विकर्म और अकर्म। यहाँ पर हम विकर्म का अर्थ विपरीत कर्म या शास्त्र-निन्दित, समाजनिन्दित कर्म लेंगे, जैसे चोरी, व्यभिचार आदि अशुभ और अनैतिक कर्म; तथा अकर्म का अर्थ लेंगे निठल्लापन, आलस्य, प्रमाद आदि तामसिक भाव। कर्म का अर्थ है कर्तव्य-कर्म, स्वभावप्राप्त कर्म, स्वधर्माचरण। यहाँ गीता का मन्तव्य यह लिया जा सकता

है कि विकर्म और अकर्म से बचो तथा कर्तव्य-कर्म करते हुए उसे भगवत्समर्पित कर दो। इससे कर्म भगवान् की पूजा बन जायगा, यज्ञ बन जायगा और बन्धन उत्पन्न करने के बदले पहले से लगे कर्मबन्धन को भी छिन्न कर देगा।

उदाहरण के लिए एक व्यापारी को लें। उसका कर्म है व्यापार करना। उसके लिए विकर्म है—काला-बाजारी, चोरी, छल। अकर्म है आलस्य का भाव, निठल्लापन, कर्म में स्फूर्ति का अभाव। जैसे कोई ग्राहक आता है, तो ठीक से उससे बात नहीं करता। ग्राहक यदि तीन-चार प्रकार का माल दिखाने को कहे, तो कहेगा—क्यों जी, लेने आये हो या देखने! अब यदि यह व्यापारी अपने व्यापार-कर्म को ईश्वर-प्राप्ति का साधन बनाना चाहता है, तो विकर्म को अपने जीवन से दूर करे, अकर्म को भी हटाकर पूरे उद्यम के साथ अपना यह स्वधर्मप्राप्त कर्म करे और उसे भगवत्समर्पित कर दे—कहे कि प्रभु, यह कर्मरूप, स्वधर्माचरणरूप पुष्प तेरे चरणों में अर्पित करता हूँ। इससे उसका वह व्यापार-कर्म ही उसे परमसिद्धि की ओर ले जायगा।

दूसरा उदाहरण एक शिक्षक का लें। उसके लिए कर्म है अपने शिक्षकीय कर्तव्य का सचाई और निष्ठा से पालन करना। विकर्म है—घूस लेकर विद्यार्थी को उत्तीर्ण कर देना या परचा 'आउट' कर देना। अकर्म है—कक्षा में पढ़ाना ही नहीं, गप मारकर पीरियड खत्म कर देना, अन्य प्रकार से कामचोरी करना। अब यदि यह शिक्षक अपने शिक्षकीय कर्म के द्वारा परम-सिद्धि को पाना चाहता है, तो उसे विकर्म और अकर्म

से अपने आपको दूर रखना होगा, तथा निष्ठा और उद्यम पूर्वक शिक्षण-कर्म करते हुए उसे ईश्वरार्पित कर देना होगा। इस प्रकार हर पेशे के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह कर्म, विकर्म और अकर्म को समझने का एक तरीका है। पर यह व्याख्या १८वें श्लोक के अर्थ को स्पष्ट नहीं करती, जहाँ पर कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की बात कही गयी है। फिर भी इस व्याख्या का हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए बड़ा महत्त्व है।

दूसरा अर्थ

जब हम १८वें श्लोक के अर्थ पर चिन्तन करते हैं. तब उसके अर्थ को सही-सही समझने के लिए हमें विकर्म और अकर्म के अन्य अर्थ लेने पड़ते हैं। यहाँ पर विकर्म का अर्थ होता है विशेष कर्म, कुशलता और दक्षता से किया गया कर्म, और अकर्म का तात्पर्य उस स्थिति से होता है, जहाँ पर कर्तापन का बोझ हम पर नहीं रहता। यह कर्म के अभाव की नहीं, उलटे तीव्र कर्म की स्थिति है। गीता का लक्ष्य हमें इसी स्थिति की प्राप्ति करा देना है। गीता की दृष्टि में परमसिद्धि का स्वरूप है इस अकर्म की स्थिति को प्राप्त हो जाना। इसी को नैष्कर्म्य की अवस्था भी कहा है, जहाँ कर्म तो तीव्र रूप से होता है, पर कर्तापन नहीं होता। कर्म का अर्थ वही है, जो ऊपर लिया गया है। यहाँ पर गीता का सन्देश यह है कि कर्म को विकर्म का यानी विशेष दक्षतापूर्ण कर्म का सहयोग लेकर अकर्म बना डालो।

उदाहरण के लिए हम जब तैरना सीखते हैं, तो

शरीर में दर्द होता है, थकावट आ जाती है। पर जब हम तैरना अच्छी तरह सीखकर पानी में चित लेट जाते हैं, तो शरीर की थकावट दूर होती है। तैरना प्रारम्भ करने की उपमा 'कर्म' से दी जा सकती है, तैरने की कला को 'विकर्म' कहा जा सकता है, और जल पर चित लेटने को 'अकर्म'। कर्म में कर्तापन दिखायी देता है, हाथ-पैर पटके जाते हैं, तैरनेवाले में कितनी हलचल दिखायी देती है। पर अकर्म में, जल पर चित लेट जाने में, कर्ता नहीं दिखायी देता, तैरनेवाला निस्पन्द पड़ा रहता है और फलस्वरूप उसकी सारी थकावट जाती रहती है। तो, कर्म में थकावट आती है, बोझा महसूस होता है, पर जब विकर्म का योग करके उसे अकर्म बना लिया जाता है, तो वह सारी थकावट दूर कर देता है। अकर्म की स्थिति में पहुँचने पर घोर कर्म भी बोझा नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह कर्मपाश को छिन्न करने-वाला होता है।

इस भूमिका के साथ हम १८वें श्लोक के अर्थ पर विचार करें। भगवान् कहते हैं कि जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है।

कर्म में अकर्म देखना:—कर्म करते हुए यह दृढ़ विश्वास रखना कि यही एक दिन मुझे अकर्म की स्थिति में पहुँचा देगा। यदि मुझे अकर्म को प्राप्त होना है, तो यह कर्म ही उसका एकमात्र उपाय है। जैसे मैं बम्बई जाना चाहता हूँ। उसके लिए मुझे बम्बई का टिकट खरीदना होगा और बम्बई जानेवाली रेलगाड़ी में बैठ जाना होगा। हरदम मुझे यह ध्यान रखना होगा कि

मेरा लक्ष्य बम्बई है, मुझे बीच में नहीं उतरना है। टिकट खरीदकर बम्बई जानेवाली ट्रेन में बैठना 'कर्म' है, हर समय लक्ष्य का ध्यान रखना और तदनुरूप कार्य करना 'विकर्म' है तथा लक्ष्य 'अकर्म' है। कर्म करते समय क्रियाशून्य आत्मचैतन्यरूप लक्ष्य का सतत ध्यान रखना ही कर्म में अकर्म देखना है।

अकर्म में कर्म देखना:—अकर्म की स्थिति को देखकर यह सोचना कि इसकी प्राप्ति का उपाय कर्मत्याग नहीं बल्कि कर्म है। जल पर चित लेटे हुए व्यक्ति को देखकर इस सत्य की अनुभूति होना कि यह क्रियाहीन-सी दिखने-वाली अवस्था तैरने की क्रिया के त्याग से नहीं मिलेगी, बल्कि तैरने का विशेष कौशल जानने से प्राप्त होगी। जल पर लेटे हुए व्यक्ति के अकर्म के पीछे जैसे हम उसके उपायस्वरूप तीव्र कर्म को देखते हैं, उसी प्रकार क्रिया-शून्य आत्मचैतन्यरूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो कर्म को उपायस्वरूप देखते हैं, वही अकर्म में कर्म देखना है।

फिर, अकर्म में कर्म देखने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि यदि व्यक्ति के मन में संसार की किसी प्रतिक्रियावश मरकट या श्मशान-वैराग्य उपज जाए और वह कर्म छोड़-छाड़कर जंगल जाने की सोचे, तो उसे यह ध्यान दिला देना कि देखो, यह जो तुम सोच रहे हो अकर्म को अपनाना, जरा अपना अन्तःकरण तो टटोलकर देखो, क्या वह सचमुच अकर्म है? वहाँ तो तुम्हारा अहंकार, तुम्हारी वासनाएँ सारी की सारी बनी हुई हैं, भले ही तुम कर्मों को छोड़कर बैठे दिखायी दे रहे हो। और जहाँ अहंकार और वासनाएँ भरी हुई हों, वह तो कर्म ही है—घोर तमोगुण-प्रेरित कर्म है।

यह भी अकर्म में कर्म देखना है।

तात्पर्य यह कि प्रवृत्ति को व्यक्ति निवृत्ति का सोपान माने। ऐसा सोचे कि प्रवृत्ति में ही निवृत्ति छिपी है, और जिस दिन हमारी प्रवृत्ति भगवदर्पित हो जायगी, उसी दिन उसमें से निवृत्ति प्रकट हो जायगी। यह प्रवृत्ति में निवृत्ति देखना है। और जब व्यक्ति निवृत्ति में स्थित हो जाय, तो ऐसा देखे कि प्रवृत्ति ही उसे निवृत्ति तक ले आयी है। यही निवृत्ति में प्रवृत्ति देखना है।

एक दृष्टान्त इस बात को और स्पष्ट कर देगा। भगवान् बुद्ध के दो शिष्य किसी सरोवर के तीर पर ध्यान कर रहे थे। इतने में एक चीख की आवाज आयी। भिक्षुओं ने देखा कि एक युवती स्त्री पानी में डूब रही है और सहायता के लिए चिल्ला रही है। एक ने सोचा कि युवती स्त्री को बचाने जाने से अंग-स्पर्श होगा, जो संन्यासी के लिए वांछनीय नहीं है, और ऐसा सोच वह बैठा रहा। दूसरे ने देखा कि स्त्री को बचानेवाला और कोई नहीं है, अतः वह जल में कूद गया और स्त्री को बचाकर ले आया। स्त्री के कपड़े भी पानी में कहीं डूब गये थे। भिक्षु ने अपना उत्तरीय स्त्री को दिया। उसे अपने शरीर में लपेट, भिक्षु के प्रति अशेष कृतज्ञता ज्ञापित कर महिला चली गयी और इधर भिक्षु पुनः ध्यान में बैठ गया। पहला भिक्षु भी ध्यान में ही बैठा था, पर उसका ध्यान बारम्बार उस स्त्री की ओर चला जाता कि कैसे उस विवस्त्र युवती को अपनी छाती से लगाकर उसका साथी जल के बाहर ले आया। वह सोचने लगा कि उसके साथी का यतिधर्म नष्ट हो

गया है और उसे संघ के बाहर निकाल देना चाहिए। कुछ महीने बाद जब दोनों तथागत से मिलित हुए तो प्रथम भिक्षु ने उनके पास दूसरे की शिकायत की और उसे संघ से बहिष्कृत कर देने का प्रस्ताव रखा। बुद्ध ने दूसरे भिक्षु से पूछा—"क्या तुमने यतिधर्म का नाश करनेवाली कोई क्रिया की है?" उसे कुछ स्मरण न आया। तब बुद्ध बोले—"जरा सोचो तो, क्या तुमने किसी विवस्त्र युवती को अपनी छाती से नहीं लगाया था?" तब उसे उस घटना का स्मरण हो आया, बोला—"भन्ते, मैं तो वह घटना भूल ही गया था। जानते में मैंने यतिधर्म का पालन ही किया था, नाश नहीं; क्योंकि मृत्यु से किसी की रक्षा करना भी यति-धर्म के अन्तर्गत ही है।" तब तथागत पहले भिक्षु की ओर मुड़कर बोले—"तुमने देखा, वह तो यह घटना भूल ही गया था, उसने तो उस युवती को कुछ ही क्षणों के लिए छाती से लगाया था, पर तुम हो जो उसे अभी तक छाती से लगाये हुए हो! यतिधर्म तो तुम्हारा नष्ट हुआ है, उसका नहीं!"

अब, पहला भिक्षु भले ही ध्यान में बैठा अकर्म में स्थित दिखायी पड़ रहा है, पर वह वस्तुतः ये सारे महीने स्त्री को छाती से लगाने का घोर मानसिक कर्म ही तो कर रहा है। दूसरी ओर वह दूसरा भिक्षु है, जो स्त्री को छाती से लगाने का कर्म करता दिखायी तो देता है, पर उसके बाद सब कुछ भूलकर फिर अकर्म में, ध्यान में स्थित हो जाता है। यही अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म देखना है।

'अष्टावक्र गीता' में सम्भवतः ऐसी ही स्थिति को

समझाने के लिए कहा गया है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ।।१८/६१

—'मूर्खों की निवृत्ति (हठ या मोह के कारण कर्म से विमुखता) भी प्रवृत्ति को जन्म देती है और ज्ञानीजनों की प्रवृत्ति (कर्मयोग) भी निवृत्ति का फल प्रदान करती है।' तो, कर्म और अकर्म का निर्णय उनके भौतिक स्वरूप को देखकर नहीं किया जा सकता। कोरे धर्म-शास्त्र से भी कर्म-अकर्म का निश्चय नहीं होता, यह निर्णय तो कर्म के बन्धकत्व को देखकर किया जाता है। यदि कर्म बन्धनकारक होता है, तो वह प्रवृत्ति है, कर्म है, और यदि वह बन्धनकारक नहीं होता, तो वह निवृत्ति है, अकर्म है। यही बात गीता के इस विवेच्य श्लोक द्वारा विरोधाभासरूपी अलंकार की रीति से बड़े अच्छे ढंग से समझायी गयी है।

हमारे यहाँ शास्त्रों की परम्परा रही है—अनुभूति की पूर्णता के लिए परस्पर-पूरक वचन कहना; जैसे—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (गीता, ६/३०); 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (गीता, ९/२९); 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।' (ईशोपनिषद्, ६), आदि। यहाँ पर भी कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की बात कहकर इसी परम्परा का निर्वाह दिखायी देता है।

तो, जो व्यक्ति इस प्रकार कर्म और अकर्म के रहस्य को जानकर कर्म में अकर्म को देखता है तथा अकर्म में कर्म को, उसको गीता ने 'मनुष्यों में बुद्धिमान्'

कहा है। बुद्धिमान् मनुष्य ही कर्म-अकर्म की इस सूक्ष्मता को पकड़ सकता है, आत्मा और देहादि व्यापारों में सामंजस्य बिठा सकता है। इसीलिए उसे 'युक्त' (योगी) कहा। योगी वह है, जिसका योग हर समय आत्म-चैतन्य के साथ बना रहता है। अकर्मरूप ज्ञानात्मक समाधि की स्थिति में तो वह आत्मरूप ही हो जाता है, पर जब वह कर्मों में लगा रहता है, उस समय भी उसका मानसिक योग आत्मवस्तु के साथ बना रहता है। श्रीरामकृष्णदेव भक्ति की भाषा में इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहते थे--एक हाथ से भगवान् के चरण को पकड़े रखो और दूसरे से संसार का कामकाज करो, और जब काम खत्म हो जाय, तब दूसरा हाथ भी भगवान् के चरणों में लगा दो।

ऐसा जो 'मनुष्यों में बुद्धिमान्' है, 'योगी' है, वह 'सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला' भी है। कर्म का वास्तविक फल है चित्तशुद्धि। चित्त की मलिनता ही आत्मचैतन्य को प्रकट नहीं होने देती। किन्तु ऐसा योगी व्यक्ति कर्म-अकर्म के रहस्य को जानने के फलस्वरूप अपने कर्मों द्वारा चित्त की मलिनता को दूर कर लेता है। यही कर्मों का फल प्राप्त करना है। इसी अर्थ में कहा गया कि योगी सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला होता है, अर्थात् वह कोई भी कर्म क्यों न करे, उसे उसका चित्तशोधन-रूप फल ही प्राप्त होता है।

कर्म में अकर्मरूप महान् शक्ति भरी होती है। स्वार्थयुक्त व्यक्ति इस महती शक्ति का लाभ नहीं ले पाता, क्योंकि वह अपने 'मैं-मेरे' की सीमित बुद्धि के कारण अकर्म को मानो ढाँक लेता है। पर जिस समय

वह इस सीमित घेरे को तोड़ डालता है और आत्म-चैतन्य में दृष्टि रखता हुआ कर्म करता है, तब उसके कर्म में निहित अकर्म प्रकट हो जाता है और कर्म की बन्धनकारी शक्ति की धज्जियाँ उड़ा देता है। चिमटी भर बारूद में कितनी शक्ति होती है! एक व्यक्ति के खीसे में पड़ी हुई है, इससे उसकी शक्ति प्रकट नहीं होती। पर यदि किसी प्रकार उसका योग जलती दियासलाई की तीली के साथ हो जाय, तो व्यक्ति के चिथड़े-चिथड़े कर देती है।

दो व्यक्ति गंगास्नान करने जाते हैं। एक को गंगा-जल की पवित्रता में विश्वास नहीं है। वह कहता है कि जल तो हाइड्रोजन और आक्सीजन के मेल से बनता है, अतः गंगा का जल भी वही है। उसमें भला क्या विशेषता है? दूसरा व्यक्ति 'गंगावारि ब्रह्मवारि' कहता है, वह मानता है कि उसमें स्नान करने से मन का मैल धुल जाता है। अब गंगाजल दोनों ही व्यक्तियों के शरीर-मल को साफ करेगा, पर जो मानता है कि उससे मनोमल भी धुलता है, उसके मन को भी वह शुद्ध कर देगा।

विकर्म दियासलाई की जलती हुई तीली है, जो कर्मरूप बारूद से मिलकर अकर्म का विस्फोट जीवन में साधित कर देती है। इससे कर्म की बाँधने की शक्ति की धज्जियाँ उड़ जाती हैं। वह ऐसा भाव है, जिससे युक्त हो स्नान करने पर जल मन का मल भी साफ कर देता है।

तो, 'कर्म' है स्वधर्माचरण की बाहरी क्रिया, और 'विकर्म' का तात्पर्य है इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना। 'विकर्म' अन्दर की क्रिया है। 'कर्म' और 'विकर्म' का योग होना चाहिए, तब 'कर्म' 'अकर्म'

बनता है। मैं शिवपिण्ड पर जल का अभिषेक तो करता हूँ, पर यदि मन में भी चिन्तन की धारा न बहे, तो सब व्यर्थ है—शिवपिण्ड भी पत्थर है और मैं भी पत्थर! किन्तु जब कर्म के साथ आन्तरिक भाव का मेल होता है, तो कर्म का रूप ही बदल जाता है, उसका कर्मत्व उड़ जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तो अन्धकार से मुठभेड़ लेनेवाला प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म को अकर्म में बदल देनेवाले इस विकर्म को ही गीता में 'योग' कहा है, जैसे—'योगः कर्मसु कौशलम्' (२/५०), 'समत्वं योग उच्यते' (२/४८)।

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (१)

स्वामी योगेशानन्द

(विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो, अमेरिका)

(लेखक रामकृष्ण संघ के अमेरिकन संन्यासी हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का संकलन कर 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक में धारावाहिक रूप से ब्रह्मचारी बुद्धचैतन्य के नाम से प्रकाशित किया था। उसी लेखमाला को रामकृष्ण मठ, मद्रास ने The Visions of Sri Ramakrishna के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित किया है, जिसकी अनुमति से यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

मूल ग्रन्थ की प्रस्तावना (Foreword) विख्यात अमेरिकन लेखिका लूइस बर्क ने लिखी है। उसका तथा लेखक के Introduction (भूमिका) का भी अनुवाद कर यहाँ पर प्रथम लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इससे श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शनों को समझने में सहायता मिलेगी।

अनुवाद-कार्य ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य ने किया है, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

प्रस्तावना

मेरी लूइस बर्क

(वेदान्त सोसायटी ऑफ नादर्न कैलिफोर्निया, सैन फ्रांसिस्को, अमेरिका)

अधिक नहीं, पच्चीस वर्ष पूर्व तक भी अतीन्द्रिय दर्शन जैसे विषय का गहन तथा सम्मानपूर्वक अध्ययन पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में काफी संशयपूर्ण एवं उलझन से भरा प्रतीत होता। पर आज हममें से अनेक यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि सत्य क्या है और असत्य क्या। अब सत्य एक इतनी आसान चीज़ नहीं प्रतीत होती कि जिसका हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से पूरा-

पूरा अनुभव कर सकें तथा जिसको युक्तियों की सहायता से सिद्ध कर सकें। अब हममें से बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि हमारे सामान्य अनुभवों तथा समझ के परे भी इन्द्रियातीत सत्ता के अनेक स्तर हो सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण-जीवन के अध्येताओं तथा उनके भक्तों के मन में इस विषय में जरा भी सन्देह नहीं। वे इस पुस्तकरूपी रत्नमंजूषा का हार्दिक स्वागत करेंगे। परन्तु इसके साथ ही खुले दिमागवाले सच्चे आधुनिक नवागन्तुकों के लिए भी यह उपयोगी तथा स्वागतयोग्य होगी, क्योंकि लिखित इतिहास में इससे पूर्व कहीं भी श्रीरामकृष्ण के समान अतीन्द्रिय दर्शनों से परिपूर्ण कोई व्यक्तित्व नहीं मिलता। वस्तुतः ऐसा लगता है मानो उनका पूरा मन ही सर्वदा अतीन्द्रिय-सत्ता के समुद्र में डूबा रहता था। और ऐसा कहते हैं कि उनका मुखमण्डल अनिर्वचनीय आनन्द से उद्भासित रहता तथा वे निरन्तर, निःसंकोच तथा उदारतापूर्वक उस समुद्र को छपछपाकर छींटे उड़ाते रहते। शब्दों में अभिव्यक्ति की जितनी भी सामर्थ्य है, उतना सब उन्होंने कह दिया।

श्रीरामकृष्ण की अतीन्द्रिय अनुभूतियों के विवरणों का, जो अब तक उनके जीवन-इतिहासों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे, स्वामी योगेशानन्द ने सावधानी तथा विवेकपूर्वक संकलन किया है। उनके गहनातिगहन से लेकर अति सामान्य प्रतीत होनेवाली सभी उपलब्ध अनुभूतियाँ इसमें प्रस्तुत की गयी हैं। इसके फलस्वरूप यह मनोरम और, सच कहें तो, तेजस्वी संकलन तैयार हुआ है। स्वामीजी का कहना है कि उन्होंने यह संकलन हम लोगों के लिए सन्दर्भ की सुविधा के निमित्त किया है।

उनकी सरल और उपयोगी व्याख्या इस उद्देश्य को भलीभाँति पूरा करती है। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक अनुभूतियों के मनोविज्ञान का एक अति जिज्ञासु विद्यार्थी जितने भी प्रश्न कर सकता है उन सबका भी समाधान करने के योग्य विस्तृत विवरण इसमें अंकित हैं। इस असन्दिग्ध महत्त्व के अतिरिक्त भी इस संग्रह का अपना एक अलग आकर्षण है।

श्रीरामकृष्ण की बड़ी जीवनियों से छानकर निकाले गये उनके इन दिव्य दर्शनों का अध्ययन अपनी अतिशय विविधता और विपुलता से हमें अभिभूत कर लेता है। और संख्या भी कितनी है! हमें तो उस वास्तविक भण्डार का एक अंश मात्र ही उपलब्ध है, क्योंकि उनके एक अन्तरंग संन्यासी शिष्य, स्वामी सारदानन्द, अपने 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' नामक ग्रन्थ में जैसा लिखते हैं—"......ठाकुर के जीवन में दिन पर दिन इतने असाधारण दर्शन एवं दिव्य अनुभूतियाँ हुआ करती थीं कि उन सबका उल्लेख करना मानवीय क्षमता के बाहर है।" परन्तु यहाँ पर वर्णित उनके भाव तथा समाधियाँ—सच्चिदानन्द सागर के छपछपाये गये वे विशाल छींटे हमें सादर विस्मय से भर देने को यथेष्ट हैं। क्या हम इनमें धर्म के मूल स्रोत की ही झाँकी नहीं पाते?

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"सभी संघटित धर्मों में ऐसा माना जाता है कि उसके संस्थापक पैगम्बरों एवं सन्देशवाहकों ने मन की इन अवस्थाओं में प्रवेश किया था, और इनमें उन्हें एक ऐसी नवीन तथ्यमाला का साक्षात्कार हुआ, जो आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध है। उन अवस्थाओं में उन महापुरुषों को जो

अनुभव हुए, वे हमारे जागृतावस्था के अनुभवों से कहीं अधिक ठोस साबित हुए।... ये तथ्य ही संसार के सभी धर्मों के आधार हैं।" † और भगवान् (श्रीकृष्ण) स्वयं ही कहते हैं कि ऐसे तथ्य जगत् की आवश्यकतानुसार सभी कालों में बार-बार प्रकट किये जाते हैं—"जब-जब धर्म की अवनति तथा अधर्म की वृद्धि होती है, मैं अवतार ग्रहण करता हूँ।"*

हम सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि वर्तमान युग में धर्म की अवनति हुई है — यहाँ तक कि वह निम्नतम स्तर तक पहुँच चुका है। हमारी इस धर्महीनता की स्थिति में पहुँचने के कारणों का वर्णन करना नीरस-सा होगा, तथापि इसका मूल विश्ववासियों के उन इन्द्रियातीत तथ्यों के प्रति पूर्ण अविश्वास में निहित है, जिनकी बात स्वामी विवेकानन्द कहते हैं और जो, जैसा कि सभी महान् सन्त बतलाते हैं, हमारे जीवन का सार-सर्वस्व हैं। आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति की प्रमुख धाराओं ने अभी कुछ ही काल पूर्व तक मानव-मन के लिए एक आध्यात्मिक सत्ता की झलक या कम से कम विश्वास तक की मौलिक आवश्यकता को पूरी तरह नजरअन्दाज कर दिया था। परन्तु ऐसी झलक या विश्वास के अभाव में मानव के आदर्श जीवित नहीं रह पाते और इस मृत्यु के साथ ही संस्कृति में सड़न आरम्भ हो जाती है। वास्तव में तब धर्म का पतन हो जाता है।

मानो इस अभूतपूर्व गहरे और भयानक अन्धकार से उबारने के लिए ही यह अभूतपूर्व जगमगाता, दूर-दूर

† विवेकानन्द साहित्य, २/१९४।

* गीता, ४।७।

तक फैलनेवाला प्रकाशपुंज श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शनों से—इन्द्रियातीत तथ्यों की समुज्ज्वल और प्रभूत अभिव्यक्तियों से—निःसृत हुआ है। इसके पूर्व जगत् को कभी भी इतना अधिक आलोक नहीं मिला था। विद्वान् पण्डितों ने श्रीरामकृष्ण से कहा था—"तुम्हारी स्थिति वेद-वेदान्तादि शास्त्रों को अतिक्रम कर बहुत आगे बढ़ चुकी है।"* क्या यही मानवीय पुकार का दैवी उत्तर—धर्म का मूल उद्गम नहीं है?

पर यदि हम श्रीरामकृष्ण को एक ईश्वरीय अवतार न भी मानें, तो भी हम उन विलक्षण अनुभूतियों में, जिनका संकलन हमारे लिए इस ग्रन्थ में किया गया है, आनन्द और आदर के साथ अवगाहन कर सकते हैं, जो, चाहे तो कह लें, एक पूर्णता-प्राप्त मानव के जीवन में उतरी थीं। हम उन पर मनन कर सकते हैं, हम उनमें गहन से गहनतर अर्थ पा सकते हैं और, सर्वोपरि, हम उनसे अपने को ज्योतित अनुभव कर सकते हैं, जैसे कि मानो हमारी अपनी अनुभूतियाँ ही स्पष्टतर और पूर्णतर होती जा रही हैं।

मैंने इस प्रस्तावना के प्रारम्भ में कहा था कि अतीन्द्रिय अनुभूतियों का महत्त्व आज हम पूर्वापेक्षा अधिक आसानी से स्वीकारते जा रहे हैं। यह सम्भवतः इस बात का द्योतक है कि हमने अतीन्द्रिय प्रकाश को रोकने के लिए अपने चारों ओर जो दीवारें खड़ी कर ली थीं, वे अब ध्वस्त होती जा रही हैं। वस्तुतः इस पुस्तक का प्रकाशन ही, जो बिना किसी सफाई या बचाव के

---

* स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' (रामकृष्ण मठ, नागपुर), भाग १, पृष्ठ ४४५।

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शनों को प्रस्तुत करती है, इस बात का सम्भवतः स्पष्ट प्रमाण है कि प्रकाश छनता आ रहा है।

भूमिका

स्वामी योगेशानन्द

सामान्यतया सन्त-महात्मा आत्मकथाएँ नहीं लिखते। परन्तु संट टेरेसा या गाँधी आदि जिन कुछ लोगों ने ऐसा किया है, उन्होंने हम साधकों के लिए आत्मा की सीढ़ी पर चढ़ने में सहायता देने को मानो हाथ बढ़ा दिये हैं। वर्तमान पुस्तक एक आत्मकथा नहीं है और न ही एक व्यक्तिचित्र या डायरी, परन्तु इसमें सभी की कुछ न कुछ विशेषताएँ आ गयी हैं।

महान् सन्तों के दिव्य दर्शन हमारे लिए अमूल्य महत्त्व के होते हैं, क्योंकि वे ऐसे जगत् के रहस्य उद्-घाटित करते हैं, जो सामान्य अनुभूतियों से परे है, पर जिसकी आंशिक अनुभूति की जा सकती है, यदि हम स्वयं असामान्य बन जाएँ तो। यदि यह बात एक सन्त के दिव्य दर्शनों के बारे में सत्य है, तो फिर एक ईश्वरीय अवतार की अनुभूतियों के बारे में तो कहना ही क्या ! इस सम्बन्ध में कम से कम दो दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं। एक तो यह कि अवतार की दिव्य अनुभूतियाँ एक सामान्य सन्त की अनुभूतियों की तुलना में इतनी उच्च तथा अलग प्रकार की होती हैं कि उन्हें समझना या पाने की इच्छा करना साधकों के बूते से बाहर है। या फिर यह कि ये अनुभूतियाँ सन्त-महात्माओं की अनुभूतियों से भिन्न होने पर भी सिर्फ मात्रा में ही भिन्न होंगी, न कि गुणवत्ता में, अर्थात् अवतार की अनुभूतियाँ

भले ही अधिक स्पष्ट, गहन तथा बारम्बार हो सकती हैं, किन्तु वे अन्य लोगों की अनुभूतियों से अलग तरह की न होंगी तथा वे युक्तिसंगत होंगी एवं साधकों के बोध में सहायक होंगी। वर्तमान सामग्री के सन्दर्भ में हमने यह द्वितीय दृष्टिकोण ही अपनाया है।

गौतम बुद्ध के जीवन के विवरणों में हम पाते हैं कि मार पूरे रातभर उन्हें अपने प्रलोभनपूर्ण तथा ऊल-जलूल दर्शनों के द्वारा बहकाता रहा। तदुपरान्त उनके चार ध्यानों यानी समाधि की अवस्थाओं में प्रवेश करने का वर्णन है। कहीं कहीं यह भी लिखा है कि वे अपनी माँ को धर्मोपदेश देने स्वर्ग में चले गये। ईसामसीह का ही उदाहरण लें। उनकी बपतिस्मा के समय कबूतर के उतरने तथा स्वर्गस्थ पिता की वाणी सुन पड़ने के अतिरिक्त उनके आन्तरिक जीवन की झलकियों के रूप में सिर्फ इतना ही मालूम है कि उन्हें निर्जन में शैतान के द्वारा प्रलोभित किया गया था। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि देवदूतों ने उनकी सहायता की। गेथ्समेन के बाग में की गयी उनकी प्रार्थना यूहन्ना के सुसमाचार में लिपिबद्ध है। यह सत्य है कि उन्होंने भविष्यवाणियाँ कीं तथा अपने स्वयं के बारे में दावे किये, परन्तु प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके दिव्य दर्शनों के वास्तविक स्वरूप का बहुत कम वर्णन है। कौन जाने ये विवरण इन महान् गुरुओं द्वारा अपने शिष्यों को बतायी गयी बातों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते भी हैं अथवा नहीं! परन्तु श्रीरामकृष्ण के बारे में, सौभाग्यवश, हम एक अलग ही ऐतिहासिक स्थिति में हैं और मजे की बात तो यह है कि यह तथ्य अन्य पूर्ववर्ती महापुरुषों की अनुभूतियों के विवरणों को भी

प्रामाणिकता प्रदान करता है।

प्रस्तुत पुस्तक मुख्य रूप से श्रीरामकृष्ण के द्वारा समाधि में 'दूसरे छोर' से प्राप्त अतीन्द्रिय अनुभूतियों के सम्बन्ध में है। श्रीरामकृष्ण ने अपने संगियों, भक्तों एवं शिष्यों को इन अनुभूतियों का जैसा विवरण दिया था, यहाँ पर हमने ठीक वैसा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जब एक ही घटना का कई अवसरों पर वर्णन किया गया है, तो उन्हें सावधानीपूर्वक ढूंढ़कर, तुलना करके उनके अन्तर का उल्लेख किया गया है। ऐसी घटनाएँ विविध स्रोतों से एक ही स्थान पर एकत्र कर आनुमानिक कालक्रम से सजा ली गयी हैं। श्रीरामकृष्ण दैनन्दिनी नहीं लिखते थे, अतः हमें 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' ग्रन्थ के परमप्रिय लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त उर्फ 'म' की स्मरण-शक्ति पर निर्भर करना होगा तथा श्रीरामकृष्ण के शिष्य एवं जीवनीकार स्वामी सारदानन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' में संकलित सामग्री की प्रामाणिकता में विश्वास रखना होगा। ये दो ही प्रमुख स्रोत हैं। अतएव अधिकांश सामग्री का कालक्रम प्रायः सर्वमान्य है, परन्तु यह आशा करना उचित न होगा कि सभी घटनाओं का ठीक-ठीक कालक्रम पूरी तौर से निर्धारित कर लिया गया है।

कुछ ऐसी भी घटनाएँ हैं, जिनसे समाधि के दौरान हुई अनुभूतियों के थोड़े विवरण का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, भावसमाधि की अवस्था में श्रीरामकृष्ण ने अपने दक्षिणेश्वर-निवास की अवधि के बारे में पहले से ही भविष्यवाणी कर दी थी और मथुरबाबू के अनुरोध पर उन्होंने इस काल में वृद्धि भी कर

दी थी।* श्रीकृष्ण का विग्रह टूट जाने पर श्रीरामकृष्ण ने भाव की अवस्था में उसका समाधान बता दिया था।० फिर श्रीरामकृष्ण के द्वारा विभिन्न अवसरों पर की जानेवाली प्रार्थनाओं को भी 'म' तथा अन्य शिष्यों ने हमारे लिए लिपिबद्ध कर लिया है। ये श्रीरामकृष्ण के अपने ही शब्द हैं और हम इनसे यह अनुमान लगा सकते हैं कि उन अवसरों पर वे ईश्वर क संस्पर्श में थे, परन्तु चूँकि यहाँ पर हमारा मुख्य विषय चेतन स्तर के उस पार से आनेवाले (या आत से प्रतीत होनेवाले) 'दिव्य संवाद' हैं, हमने ऐसी अधिकांश घटनाओं को छोड़ दिया है। परन्तु इनमें कुछ ऐसी घटनाएँ भी मिल जाएँगी, जो अधिक महत्त्व की न होने के बावजूद समाधि में श्रीरामकृष्ण की मनःस्थिति को समझने में सहायक हैं।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक में सर्वत्र 'दिव्य दर्शन'† शब्द का प्रयोग किया गया है, पर इस शब्द को विस्तृत अर्थ में लेना होगा। आगे इन घटनाओं का अध्ययन करने पर हम पाएँगे कि इनमें जिन प्रतीक-विम्बों का प्रयोग किया गया है, वे केवल दृश्य ही नहीं, अपितु बहुधा श्रव्य भी हैं तथा इनमें कभी-कभी स्पर्श, गन्ध या स्वाद की संवेदनाओं के साथ ही गति-विषयक संवेदनाएँ भी हैं।

एक सन्त या ऋषि को जब दिव्य दर्शन होता है, तो क्या वह उसके अपने ही अवचेतन मन का बाहरी प्रकाश है, अथवा आध्यात्मिक सत्ता का 'बाह्य' जगत् में ऐसा

---

* 'लीलाप्रसंग', भाग १, पृष्ठ ४१६।

० वही, पृष्ठ १९८-९९।

† अनुवाद में कहीं-कहीं 'दिव्य अनुभूति' शब्द का भी व्यवहार किया गया है।

कोई दृश्यगत स्तर है, जो व्यक्ति के सीमाबद्ध मन में बलपूर्वक प्रविष्ट हो सकता है ? यह एक पुराना और पेचीदा प्रश्न है। कुछ काल के लिए तो इसने महान् स्वामी विवेकानन्द को भी उलझन में डाल दिया था। परन्तु धीरे-धीरे उन्हें इस प्रश्न का उत्तर अपने गुरुदेव के जीवन, उपदेश एवं अनुभूतियों में प्राप्त हुआ। आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वामी सारदानन्द का इस विषय में क्या कहना है। इस पुस्तक की सामग्री यदि प्रत्येक पाठक को इस सम्बन्ध में विश्वास न भी दिला सकी, तो भी इस समस्या पर थोड़ा प्रकाश तो अवश्य ही डाल सकेगी।

हमने यह मान लिया है कि पाठक ने अवश्य ही श्रीरामकृष्ण की जीवनी का अध्ययन किया होगा। उसे यह अवश्य ही ज्ञात होगा कि ठाकुर को असंख्य अवसरों पर विविध प्रकार की समाधियाँ हुआ करती थीं, जिनका विवरण किसी को भी नहीं मालूम। ऐसा प्रतिदिन ही हुआ करता था। और प्रतिदिन ही क्यों, दिन में कितनी ही बार ! १८६५-६६ ई. के लगभग छह महीनों के अधिकांश काल में वे निर्विकल्प समाधि में डूबे रहे थे। और बाद में १८७४ ई के लगभग भी पुराने भक्तों में से एक 'कप्तान' उपाध्याय ने उन्हें एक भाव का चिन्तन करते हुए तीन दिन एवं तीन रात निरन्तर समाधि में डूबे हुए देखा था, जिसका बाद में उपशम हुआ था।* इस सामान्य चेतना से दीर्घकाल तक अनुपस्थित रहकर श्रीरामकृष्ण क्या देखते, सुनते या अनुभव करते थे, यह हम कभी भी न जान सकेंगे। अपनी अन्तर्तम अनुभूतियों का उनके द्वारा वर्णन आम न

* 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृष्ठ ५३।

होकर अपवाद-जैसा ही था ।

स्वामी सारदानन्दजी कहते हैं--"श्रीरामकृष्णदेव के आध्यात्मिक भावजनित दर्शनों की मीमांसा करने से यह विदित होता है कि उनमें से कुछ दर्शन स्वसंवेद्य थे तथा कुछ परसंवेद्य; अर्थात् उनमें से कुछ उनके शरीराबद्ध मानसिक चिन्तन के परिणामस्वरूप थे, जो कि निष्ठा तथा अभ्यास की सहायता से घनीभूत हो मूर्तिधारण कर उनके समीप उक्त प्रकार से प्रकट होते रहते थे तथा वे स्वयं ही उन्हें देख पाते थे, एवं उनमें से कुछ ऐसे थे कि जब वे उन्नत से उन्नततर भावभूमि पर आरूढ़ हो निर्विकल्प भावभूमि के समीप पहुँचते थे तब, अथवा 'भावमुख' में अवस्थित' रहते समय उन्हें दिखायी देते थे; भावमुख के दर्शन दूसरों के लिए अज्ञात होते हुए भी उस समय उन्हें प्रत्यक्ष दिखते थे तथा वे कहा करते थे कि भविष्य में वे घटेंगे; एवं समय आने पर वास्तव में उन घटनाओं को उस प्रकार घटते हुए लोग देखा भी करते थे । श्रीरामकृष्णदेव के प्रथमोक्त दर्शनों को सत्य-रूप से उपलब्धि करने के लिए दूसरों को भी उनकी तरह श्रद्धा, विश्वास तथा निष्ठासम्पन्न होना या जिस भूमि पर आरूढ़ हो उनको उस प्रकार दर्शन प्राप्त हुए हैं, उस भूमि पर आरूढ़ होना पड़ता था तथा द्वितीय प्रकार के दर्शनों की सत्यता को अनुभव करने के लिए लोगों को विश्वास या किसी प्रकार की साधनाओं की आवश्यकता नहीं होती थी--उनके वे दर्शन सत्य हैं, दर्शन के फल को देखकर ही लोग यह विश्वास करने को बाध्य हो जाते थे ।"*

यह आशा की जाती है कि हमने इसमें श्रीरामकृष्ण

* वही, भाग २, पृष्ठ ३९८-९९ ।

के सभी ज्ञात दर्शनों का वर्णन किया है, तथापि हमें स्वामी सारदानन्द का एक अन्य कथन स्मरण हो आता है-- "तन्त्र-साधन के समय से श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में नित्यप्रति इतने अलौकिक दर्शन तथा अनुभव उपस्थित हुए थे कि हम समझते हैं, उनका सम्यक् उल्लेख करना मनुष्य की सीमित शक्ति से बाहर की बात है।"* एक और सावधानी बरतने की है--वह यह कि यहाँ पर जो अनुभूतियाँ संग्रहित हैं, वे सापेक्ष जगत् की ओर ही अधिक झुकी हुई हैं, इसलिए वे उनके अलौकिक जीवन की न तो रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं, न उनका आंशिक प्रतिनिधित्व ही करती हैं। वस्तुतः गहनतम समाधि एक वस्तु-रहित चेतना है, जो कि वर्णनातीत है। इस छबि को सन्तुलित करने के लिए हमें श्रीरामकृष्ण का बारम्बार तथा लम्बी अवधि तक अद्वैत अखण्ड ब्रह्म में डूबे रहना भी स्मरण रखना होगा। यहाँ पर यह भी कह देना उचित होगा कि साधना-समाप्ति के पश्चात् से ठाकुर निरन्तर एक न एक आध्यात्मिक अनुभूति में डूबे रहा करते थे।

यदि इस पुस्तक में मात्र एक धर्मोत्साही व्यक्ति के ख्याली-पुलावों का संकलन होता, तो फिर इसके प्रकाशन का कोई अर्थ या महत्त्व न होता। यह पुस्तक एक भक्त के द्वारा भक्तों के निमित्त लिखी गयी है, अतः इसमें भक्तिपूर्ण मनोवृत्ति अपनायी गयी है। श्रीरामकृष्ण की दिव्यता तथा फलस्वरूप उनकी जीवनलीला के आध्यात्मिक माहात्म्य पर विश्वास ही हमारी सारी व्याख्याओं का आधार है। तथापि आशा की जाती है कि इसमें आये हुए प्रतीकों की समृद्ध

* वही, भाग १, पृष्ठ ३०१।

विविधता, जिनके माध्यम से उनका असाधारण मन गूढ़तम सत्यों को अभिव्यक्त किया करता था, एक संशययुक्त बुद्धिवादी को भी थोड़ा आकर्षित अवश्य करेंगी।

उन आध्यात्मिक अवस्थाओं की, जिनमें कि ये दर्शन प्राप्त हुआ करते थे, आपस में तुलना करके वर्गीकरण करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। वर्तमान लेखक ने यह उत्तरदायित्व किसी अन्य योग्यतर व्यक्ति के लिए छोड़ दिया है। मूल लेखन में जो संख्याएँ अंकित हैं, वे उसी पृष्ठ के नीचे लिखित पाद-टिप्पणियों के लिए हैं, जिनमें घटना का मूल स्रोत दिया हुआ है। सुविधा की दृष्टि से हमने स्वामी सारदानन्द के ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' को संक्षिप्त कर 'लीला-प्रसंग' तथा श्री 'म' द्वारा लिखित (एवं 'निराला' द्वारा अनूदित) 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' ग्रन्थ को 'वचनामृत' लिखा है। (ये दोनों ही ग्रन्थ रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर से प्रकाशित हुए हैं।) इसके अतिरिक्त अंग्रेजी ग्रन्थ 'Life of Sri Ramakrishna', जो अद्वैत आश्रम, मायावती (पिथौरागढ़) से छपा है, इसमें 'Life' के रूप में उल्लिखित हुआ है।

इस पुस्तक के सुधार, प्रूफ-शोधन तथा सामग्री में महत्त्वपूर्ण सहायता के लिए मैं अपने एक संन्यासी बन्धु के प्रति आभारी हूँ। मेरी लूइस बर्क ने अपनी प्रस्तावना में पुस्तक की सामग्री के अनुरूप ही योगदान किया है।

श्रीरामकृष्णदेव ने स्वयं ही कहा था—"मेरी अनुभूतियाँ दूसरों के सन्दर्भ के लिए हैं।" इस पुस्तक का उद्देश्य इसी कार्य को थोड़ा सरल भर कर देना है।

○

माँ के सान्निध्य में (१)

स्वामी अरूपानन्द

(श्री माँ सारदा के अनेक भक्तों और शिष्य-शिष्याओं ने उनके साथ बिताये पावन क्षणों को शब्दों में बाँधकर सहेज रखा है। ऐसे कुछ संस्मरण 'श्रीश्रीमायेर कथा' बँगला ग्रन्थ के दो खण्डों में लिपिबद्ध हैं। यह ग्रन्थ उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित हुआ है, जहाँ से इस नयी लेखमाला की सामग्री साभार गृहीत और अनुवादित है।

प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ के शिष्य एवं सेवक थे। अनुवादक हैं स्वामी निखिलात्मानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर, बिहार में कार्यरत हैं।—स०)

जयरामवाटी में प्रथम दर्शन : १ फरवरी १९०७

(शिवचतुर्दशी की पूर्व तृतीया, प्रातः प्रायः ८।। बजे)

वरदा मामा ने आकर खबर दी, "माँ बुला रही हैं।"

घर के भीतर जाकर देखता हूँ माँ अपने कमरे के भीतरी दरवाजे पर खड़ी राह देख रही हैं। प्रणाम करते ही उन्होंने पूछा, "कहाँ से आये हो ?"

मैंने जिले का नाम बतलाया।

माँ—लगता है अब ठाकुर की बातों को लेकर ही रह रहे हो ?

मैंने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। बातचीत मानो पूर्व परिचित की भाँति हो रही है। वह स्नेहभरी दृष्टि मुझे अब भी स्मरण हो आ रही है।

माँ—क्या तुम कायस्थ हो ? (मेरा सारा शरीर शीतकाल के कारण गरम चादर से ढका हुआ था।)

मैं—हाँ ।

माँ—तुम लोग कितने भाई हो ?

मैं—चार ।

माँ—बैठो, जलपान करो ।

यह कह उन्होंने स्वयं बरामदे में आसनी बिछा दी और रात की लूची और गुड़ का प्रसाद एक कटोरी में ले आयीं ।

पिछले दिन तारकेश्वर से पैदल चलकर आया था। शाम को देशड़ा (जयरामवाटी के उत्तर की ओर का गाँव) पहुँचा था। साथ में देशड़ा का एक लड़का था (गोविन्द राय का बड़ा लड़का)। उसके साथ हरिपाल स्टेशन में परिचय हुआ था। रात में उसके घर रुका था।

माँ ने यह सब सुना और मेरे खाने के बाद बोलीं, "नहाना मत। बहुत दूर पैदल चलकर आये हो।" फिर एक पान दिया ।

दोपहर में ठाकुर का भोग होते ही उन्होंने मुझे बुला भेजा और सबसे पहले खाना खिलाया। वे स्वयं ही शाल के पत्ते में सब्जी-भात आदि परोस गयीं। मैं माँ के कमरे के बरामदे में बैठा खा रहा था। खाते समय माँ ने कहा, "देखो, पेट भरकर खाना।" खाने के के बाद पान दिया ।

शाम को तीन-चार बजे घर के भीतर जाकर देखता हूँ माँ आटा गूँध रही हैं। अपने कमरे के बरामदे के दक्षिण-पश्चिम कोने में पूर्व की ओर पैर लम्बा करके बैठी हैं। पास में ही छोटा सा चूल्हा है। शाम को लूची, तरकारी आदि वहीं पर तैयार की जाती है। मुझे देखकर माँ ने पूछा, "क्या चाहिए ?"

"मैं—तुमसे बात करनी है ।

माँ—क्या बात ? बैठो ।

यह कहकर उन्होंने बैठने के लिए आसनी दी ।

मैं—माँ, ठाकुर को सब यह जो पूर्णब्रह्म सनातन कहते हैं, तुम क्या कहती हो ?

माँ—हाँ, वे मेरे पूर्णब्रह्म सनातन हैं ।

'मेरे' कहने पर मैंने कहा, "वैसे तो प्रत्येक स्त्री के लिए ही उसका पति पूर्णब्रह्म सनातन है। मैं उस दृष्टि से नहीं पूछ रहा हूँ ।"

माँ—हाँ, वे पूर्णब्रह्म सनातन हैं—पतिरूप में भी और ऐसे भी ।

तब मेरे मन में आया, वे पूर्णब्रह्म होने से तो माँ स्वयं जगदम्बा हुईं—जैसे सीता-राम, राधा-कृष्ण एक दूसरे से अभिन्न हैं। मैं भी यही विश्वास लेकर माँ के दर्शनों को गया था। मैंने पूछा, "तब फिर तुमको यह जो एक साधारण स्त्री के समान रोटी बेलते देख रहा हूँ, यह सब क्या है? क्या माया है?"

माँ—माया नहीं तो और क्या ? माया न होने से मेरी ऐसी दशा क्यों होती? वैकुण्ठ में मैं नारायण के पास लक्ष्मी होकर रहती।

फिर कहने लगीं, "भगवान् नरलीला पसन्द करते हैं न। श्रीकृष्ण ग्वाले के लड़के थे और राम दशरथ के बेटे।"

मैं—तुम्हें अपना स्वरूप स्मरण नहीं आता?

माँ—हाँ, कभी-कभी याद हो आता है, तब सोचती हूँ कि यह मैं क्या कर रही हूँ, यह क्या कर रही हूँ! फिर यह सब घर-बार, लड़के-बच्चे (हाथ

फैलाकर सामने सब दिखाते हुए) याद आते हैं और मैं भूल जाती हूँ।

मैं प्रायः प्रतिदिन सन्ध्या के बाद माँ के कमरे में जाकर बैठता। माँ खाट में लेटी हुई बातें करतीं। राधू (माँ की भतीजी) माँ के पास लेटी रहती। कमरे में आले के ऊपर दिया टिमटिमाता रहता। किसी-किसी दिन नौकरानी को माँ के पैर में वात का तेल मालिश करते हुए देखता।

बातचीत के बीच माँ कह रही हैं, "जब मुझे किसी भक्त की याद आती है, प्राण व्याकुल हो उठते हैं, तब या तो वह स्वयं चला आता है अथवा उसकी चिट्ठी आ पहुँचती है।

"यह जो तुम यहाँ आये हो, कुछ एक भाव लेकर आये हो। हो सकता है जगन्माता* सोचकर आये हो।"

---

* श्री माँ अपने सम्बन्ध में क्वचित् ही इस प्रकार की बातें करती थीं। बाद में शिबूदादा (श्रीरामकृष्ण के भतीजे) के मुँह से सुना था—ठाकुर के देहत्याग के बाद एक बार माँ कामारपुकुर से जयरामवाटी आ रही थीं। शिबूदादा (तब लड़के थे) कपड़े की गठरी लिये हुए साथ में थे। जयरामवाटी के निकट के मैदान के बीच आकर शिबूदादा के मन में अचानक क्या आया कि वे वहीं खड़े हो गये। माँ ने कुछ दूर आगे बढ़ने पर जब पीछे पैर की आहट नहीं सुनी तो मुड़कर देखती हैं कि शिबूदादा खड़े हुए हैं। माँ ने कहा, "यह क्या रे शिबू, चला आ।" शिबूदादा ने कहा, "एक बाद बताओ तभी मैं आऊँगा।" माँ—"क्या बात?" शिबूदादा—"बता सकती हो कि तुम कौन हो?" माँ—"मैं और कौन? मैं तेरी चाची।" शिबूदादा—"तब फिर तुम जाओ, घर के पास तो आ ही गयी हो। मैं अब नहीं

मैं--क्या तुम सभी की माँ हो ?

माँ--हाँ !

मैं--इन सब दूसरे जीव-जन्तुओं की भी ?

माँ--हाँ, उनकी भी ।

मैं--तब वे लोग इतना दुःख क्यों पाते हैं ?

माँ--उन लोगों का यह सब जन्म ही इसीलिए है। (अर्थात् अन्य सब जीव-जन्तुओं के इन सब जन्मों में ऐसा ही होता रहता है।)

एक सन्ध्या माँ के साथ उनके कमरे में मेरा निम्न-लिखित रूप से वार्तालाप हुआ ।

माँ--तुम लोग मेरे पास आये हो, क्योंकि तुम सब मेरे अपने जन हो ।

मैं--क्या मैं तुम्हारा अपना हूँ ?

माँ--हाँ, मेरे अपने हो । क्या इसमें सन्देह है ? यदि कोई किसी का अपना जन होता है, तो वे युग-युग में एक दूसरे के साथ अटूट रूप से जुड़े रहते हैं ।

मैं--सभी तुम्हें 'आप' कहते हैं, पर मैं ऐसा नहीं कर सका । मेरे मुँह में 'तुम' ही सहज रूप में आ जाता है ।

माँ--ठीक ही तो है । उससे अपनापन सूचित होता है ।

बातचीत के दौरान मैंने उनसे कहा, "जिन लोगों को

जाऊँगा।" (इधर शाम खत्म होने को आयी थी)। माँ--"देखो तो सही, मैं भला और कौन हूँ रे ? मैं मनुष्य हूँ, तेरी चाची।" शिबूदादा--"ठीक तो है, तुम जाओ न।" शिबू-दादा को न आते देख माँ ने अन्त में कहा, "लोग कहते हैं काली।" शिबूदादा--"ठीक ? काली हो ?" माँ--"हाँ।" शिबूदादा "तब चलो" कहकर साथ-साथ जयरामवाटी गये।

तुमने मंत्र दिया है, स्वाभाविक ही उन सबका दायित्व तुमने लिया होगा। फिर जब हम तुमसे अपनी किसी इच्छा की पूर्ति के लिए कहते हैं, तो तुम ऐसा क्यों कहती हो 'मैं ठाकुर से कहूँगी' ? क्या तुम स्वयं हमारा भार नहीं ले सकतीं' ?"

मेरे मन में तब तक दीक्षा लेने की इच्छा प्रबल नहीं हुई थी। इसलिए मैंने यह प्रश्न किया।

माँ——तुम्हारा भार तो ले ही लिया है।

मैं——माँ आशीर्वाद दो, जिससे मेरा मन पवित्र हो और भगवान् में लगे। माँ, मेरा एक सहपाठी था। उससे मेरा जितना प्यार था, उसका एक-चौथाई भी यदि ठाकुर के प्रति हो जाय, तो मुझे बड़ी खुशी हो।

माँ——ठीक ही तो है। ठाकुर से कहकर देखूँगी।

मैं——फिर तुमने वही बात कही कि ठाकुर से कहूँगी ? ऐसा क्यों कहती हो ? क्या तुम ठाकुर से भिन्न हो ? खाली तुम्हारे आशीर्वाद से ही मेरी इच्छा पूरी हो जायगी।

माँ——बेटा, यदि मेरे आशीर्वाद से तुम्हें पूर्ण ज्ञान मिलता हो, तो मैं अपने सम्पूर्ण मन-प्राण से तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ। क्या मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि बिना किसी सहायता के वह माया की जकड़न से बच जाय ? इसी के लिए तो ठाकुर ने इतनी कठोर साधनाएँ कीं और उनका फल मानवता के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया।

मैं——ठाकुर को बिना देखे कोई उनकी भक्ति कैसे कर सकता है ?

माँ——सो तो ठीक है। क्या किसी काल्पनिक आदमी

के साथ कोई प्रेम कर सकता है ?

मैं--मुझे ठाकुर के दर्शन कब मिलेंगे ?

माँ--तुम उन्हें जरूर देखोगे। समय आते ही तुम उन्हें देख पाओगे।

(क्रमशः)

○

विवेकानन्द जयन्ती समारोह--१९८५

कार्यक्रम

स्वामी विवेकानन्द का १२३वाँ जन्मतिथि-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) रविवार, १३ जनवरी, १९८५

विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ

० शनिवार, १९ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

० रविवार, २० जनवरी . . प्रातःकाल ८॥ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

एवं

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

० रविवार, २० जनवरी . . सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

० सोमवार, २१ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

० मंगलवार, २२ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

० बुधवार, २३ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

० गुरुवार, २४ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

० शुक्रवार, २५ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्प्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

० रविवार, २७ जनवरी . . सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

मुख्य अतिथि– श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, आय. ए. एस.
(ऑडिटर जनरल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली)

विषय : "स्वामी विवेकानन्द––वर्तमान सन्दर्भों के आईने में"

० **सोमवार,** २८ जनवरी ० सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

विषय : "श्री माँ सारदा––जीवन और सन्देश"

प्रवचनकार : स्वामी आत्मानन्द

० २९ जनवरी से ७ फरवरी तक . . सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकर जी महाराज

० ८ फरवरी से १० फरवरी तक . . सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

श्री माँ सारदा देवी का १३२वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) शनिवार, १५ दिसम्बर, १९८४
सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) १६-१२-८४ को सन्ध्या ५ बजे

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का १५० वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) गुरुवार, २१ फरवरी, १९८५
सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) २४-२-८५ को सन्ध्या ५ बजे

अपील

महाराष्ट्र के बुलढाना नगर में ३ वर्ष पूर्व इस अंचल के भक्तों द्वारा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र की स्थापना की गयी। रामकृष्ण मठ-मिशन के महा-उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज के करकमलों द्वारा २३-११-१९८१ को भूमि-पूजन तथा आश्रम-भवन एवं उपासना-गृह का शिलान्यास सम्पन्न हुआ। भक्तों की चेष्टा से लगभग १ लाख रुपये की लागत से आश्रम-भवन एक वर्ष की अल्प अवधि में ही निर्मित कर लिया गया तथा उसके ऊपर श्रीरामकृष्ण-मन्दिर का निर्माण-कार्य द्रुतगति से चला हुआ है। इस मन्दिर का उदघाटन पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्दजी द्वारा २१-१-१९८५ को होने जा रहा है। मन्दिर निर्माण पर अब तक ७५०००) लग चुके हैं तथा इतनी ही राशि उसे सर्वांग सम्पूर्ण बनाने में और लगेगी। भक्त-जनों से अनुरोध है कि वे उस पुनीत कार्य के लिए अधिक से अधिक आर्थिक सहयोग धनादेश, चेक या ड्राफ्ट द्वारा "श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, सर्क्यूलर रोड, बुलढाना--४४३ ००१ (महाराष्ट्र)" के पते पर भेजने की कृपा करें।

--विनीत--

व्ही. एस. लामधाडे	जे. यु. भालेराव	शिवशंकर पाटील
उर्फ आप्पाजी	एडवोकेट, बुलढाना	शेगाँव
सहसचिव	सचिव	ट्रस्टी